ము యాకూత్‌పుర
బాద్ (ఆం.ప్ర.)
త్సరచందా
రూపాయలు
30 పైసలు



రెండు గంటలకు వేదాదుల ము
తెప్పించబడిన అచ్చుయంత్రం
మెటిక్ మిషిన్) ప్రారంభోత్సవం
బడును నాటినుండి వేద ముద్రణ కా
ప్రారంభమగును అందరు పాల్
సని కోరుచున్నాము.

శుక్రవారం विराट् तेलुगु-साप्ताहिक, आर्यसमाज, याकूतपुरा हैदराबाद. సంపాదకుడు :- వేంకటేశ్వర
శ. ౧౮౯౧ ఆషాఢ శుద్ధ ౮ | ఆర్యసమాజము, యాకూత్‌పుర, హైదరాబాద్-500023 | విడిప్రతిక ౩౦ పైసలు | సంచిక

...కి పాపమా ! పారిపొమ్ము, నాకు చెడు సలహాలివ్వ...

...వుచున్నావు ? తొలగిపొమ్ము నిన్ను నేను కోర...

...కణ్యాలకు వెళ్లి అచ్చటనే విహరించుము ఇచ్చటికి రాబోకుము ...
...ముల ... వాని పోషణయందు నిమగ్నమైయున్నది. కావున ఓ పాపమా ! పొమ్ము పారి...
...స్పాప ... కామయే వృక్షాన్ వనాని సం చర గృహేషు గోషు మే మనః । (అథర్వవేదము ౬వ ...

...కాశిలో ఆర్య...
...ము ... నాద్

అధ్యాపకుల అవసరం

...ందిభయంకరాలు ...

ఓ౩మ్

కృణ్వంతో విశ్వమార్యమ్.........విశ్వమును ఆర్యులుగా నొనర్పుడు.

తెలి.


पु०सं०...1230
भारती पुस्तकालय

॥ श्रीः ॥

हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला
२७१



महाकविश्रीविल्हणविरचितं

विक्रमाङ्कदेवचरितम्

'सुचारु', 'सुरभि' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकारः
साहित्य-वेदान्त-मीमांसाचार्यः, साहित्यरत्नम्
डॉ० श्रीगजाननशास्त्री मुसलगांवकरः
एम० ए०, पी-एच० डी०
[प्राध्यापकः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः, वाराणसी]

(प्रथमः सर्गः)



चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१
१९६९

प्रकाशक : चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, वि० संवत् २०२५

मूल्य : २-२५

Gopal Mandir Lane

P. O. Chowkhamba, Post Box 8,

Varanasi-1 (India)

1969

Phone : 3145

प्रधान शाखा

चौखम्भा विद्याभवन

चौक, पो० बा० ६९, वाराणसी-१

फोन : ३०७६

THE
HARIDAS SANSKRIT SERIES
279



VIKRAMĀṄKADEVACARITA

OF

MAHĀKAVI VILHAṆA

Edited With

The 'Sucāru'-'Surabhi' Sanskrit-Hindī Commentaries

By

SĀHITYA-VEDĀNTA-MIMĀṂSĀCĀRYA, SĀHITYARATNA
DR. ŚRĪ GAJĀNANA ŚĀSTRĪ MUSALGĀONKAR
M. A., Ph. D.
Lecturer, B. H. U., Varanasi.

THE
CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
VARANASI-1
1969

First Edition
1969
Price Rs. 2–25

Also can be had of
THE CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
Publishers & Oriental Book-Sellers
Chowk, Post Box 69, Varanasi–1 (India)
Phone : 3076



प्रस्तावना

भारतीय साहित्य में इतिहास का स्थान—

पश्चिमी शिक्षा के परिणामस्वरूप आजकल लोगों ने एक धारणा-सी बना ली है कि भारतीय साहित्य में इतिहास के लिये कोई स्थान ही नहीं है। कतिपय विद्वानों का तो यहाँ तक कहना है कि भारतीय लोग इतिहास से परिचित ही न थे, इसी कारण संस्कृत-साहित्य में इतिहास-ग्रन्थों का निर्माण नहीं हुआ।

परन्तु ये धारणायें नितान्त निराधार हैं। भारतीय साहित्य में पुराण और इतिहास, वेद के ही तुल्य समझे गये हैं। ऋग्वेद में ही अनेक कथायें ऐसी हैं जिनमें इतिहास भरा पड़ा है।

"त्रितं कूपेऽवहितमेतत्सूक्तं प्रतिबभौ।
तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्र मृङ्मिश्रं गाथामिश्रं भवति॥" (निरु० ४।६)

छान्दोग्य उपनिषद् में सनत्कुमार के साथ ब्रह्मविद्या का अध्ययन करते समय अपनी अधीत विद्याओं में नारद मुनि ने 'इतिहास तथा पुराण' को पञ्चम वेद कहा है।

"ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्वणम्।
इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्॥" (छान्दो० ७।१)

यास्क ने भी निरुक्त में ऋचाओं के निर्वचनार्थं ब्राह्मणग्रन्थ तथा प्राचीन आचार्यों की कथाओं को 'इतिहासमाचक्षते' ऐसा कहा है। वेदार्थ का निरूपण करने वाले विभिन्न सम्प्रदायों में ऐतिहासिकों का भी एक पृथक् स्थान था। निरुक्तकार 'इति ऐतिहासिकाः' कहकर उपर्युक्त कथन को पुष्ट करते हैं।

इतिहास और पुराणों के अध्ययन की आवश्यकता—

वेद का यथार्थ अर्थ समझने के लिये इतिहास-पुराण का अध्ययन आवश्यक बताया गया है। भगवान् वेदव्यास कहते हैं—'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' वेद का उपबृंहण (स्पष्टार्थ प्रतीति) इतिहास और पुराण के द्वारा होना चाहिये, क्योंकि इतिहास और पुराणों के न जानने वाले लोगों से वेद को भय

लगता है—कि ये इतिहास-पुराणानभिज्ञ मूर्ख कहीं मुझको नष्ट न कर दें अर्थात् मेरी हत्या न कर बैठें।

राजशेखर ने 'इतिहास' को एक उपवेद ही माना है। कौटिल्य ने 'इतिहास' की अथर्ववेद के साथ गणना की है तथा इसके अन्तर्गत पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र को माना है।

इतने ठोस प्रमाणों के रहते हुए भी भारतीय साहित्य को इतिहास से शून्य समझना अनुचित है।

'इतिहास' शब्द का वास्तविक व्यापक अर्थ—

'इतिहास' शब्द के वास्तविक अर्थ का परिचय देते हुए 'रामायण-महाभारत' भारत के वास्तव में इतिहास हैं। 'इतिहास' शब्द का अर्थ—इति + ह + आस—जो इस तरह से था। इतिहास शब्द की इस व्युत्पत्ति से यह स्पष्ट होता है कि सभ्यता, संस्कृति तथा धर्म के प्राचीन स्वरूप तथा समय-समय पर होने वाली युगक्रान्ति का परिचायक 'इतिहास' ही हुआ करता है। इसीलिये 'रामायण-महाभारत' इतिहास कहे जाते हैं।

इतिहास तथा पुराणों का प्रतिपाद्य विषय—

इतिहास के द्वारा वेद के अर्थ का स्पष्टीकरण होता है। वेद का अर्थ तो स्वयं सूक्ष्म ठहरा, जिसे सूक्ष्म मतिवाले लोग ही भलीभाँति समझ सकते हैं। परन्तु इन इतिहास तथा पुराण ग्रन्थों में हम उसी सूक्ष्म अर्थ का प्रतिपादन जनसाधारण के लिये बोधगम्य, सरस तथा सरल भाषा में पाते हैं। इतिहास और पुराणों में जो सिद्धान्त प्रतिपादित हैं, वे सिद्धान्त वेद के ही हैं; इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। परन्तु हमारे समझने योग्य भाषा में लिखे जाने के कारण ये हमारे हृदय को अधिक स्पर्श करते हैं। व्यास ने इतिहास की महत्ता बतलाते हुए इसी बात की ओर संकेत किया है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदोमामयं प्रहरिष्यति॥

इतिहास के व्यापक अर्थ में राजशेखर की सम्मति—

इतिहास के जिस व्यापक अर्थ का हमने अभी निर्देश किया है, उसका

समर्थन राजशेखर की काव्यमीमांसा से भी होता है। राजशेखर का कहना है कि इतिहास दो प्रकार का है—(१) परिक्रिया, (२) पुराकल्प। 'परिक्रिया' से अभिप्राय उस इतिहास से है जिसका नायक एक ही व्यक्ति होता है, जैसे रामायण। 'पुराकल्प' अनेक नायक वाले इतिहास ग्रन्थ का सूचक है, जैसे महाभारत।

परिक्रिया पुराकल्पः, इतिहासगतिर्द्विधा।
स्यादेकनायकापूर्वा, द्वितीयाबहुनायका॥

अतः राजशेखर के अनुसार भी 'रामायण-महाभारत' ये दोनों ग्रन्थरत्न 'इतिहास' के ही अन्तर्गत माने जाते हैं।

प्राचीन विद्वानों की लौकिक ऐतिहासिक ग्रन्थ-रचना—

इस वास्तविक स्थिति के बताने के बाद भी यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि प्राचीन भारतीय विद्वान् आधुनिक अर्थ में (तिथिप्रधान, घटनाप्रधान) इतिहास ग्रन्थ रचना की ओर इतने उदासीन क्यों रहे ?

ऐसे प्रश्नकर्ता बिना सोचे-समझे ऐसा प्रश्न किया करते हैं। क्योंकि प्राचीन भारतीय विद्वानों ने अपने साहित्य में लौकिक घटनाओं के इतिहासों को रचा ही नहीं, यह कैसे कहा जा सकता है। पुराणों, बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों में तात्कालिक धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन का विशद चित्र देखने को मिलता है। राजाओं की प्रशस्तियों में ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध होते हैं। संस्कृत के महाकाव्यों, नाटकों तथा गद्य काव्यों में जहाँ-तहाँ ऐतिहासिक सामग्री बिखरी पाते हैं। मेघदूत जैसे काल्पनिक खण्डकाव्य में भी तत्कालीन समाज और इतिहास के यथार्थ चित्र दिखाई देते हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि कालिदास का कुमारसम्भव मौर्यों के पतन और वैदिक संस्कृति के उन्नायक हिन्दूराज्यों के उत्थान का रूपकात्मक चित्रण है तथा भारवि का किरातार्जुनीय कुशन आक्रान्ताओं से त्रस्त भारत में राष्ट्रीयता का ओजःपूर्ण सन्देश फूँकने वाला महाकाव्य है।

इनके अतिरिक्त अनेक ऐतिहासिक महाकाव्यों की रचना हुई जिनके द्वारा भारत के मध्यकालीन इतिहास पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है।

इसी विषय पर श्री पं॰ चन्द्रशेखर पाण्डे एम॰ ए॰ महोदय ने बहुत ही युक्तियुक्त तथा सुन्दर लिखा है।

ऐतिहासिक भारतीय दृष्टिकोण—

जिस दृष्टिकोण को लेकर पाश्चात्त्य आलोचक संस्कृत के इतिहास ग्रन्थों की समीक्षा करते हैं, वह भ्रान्तिपूर्ण है। इतिहास के आधुनिक ग्रन्थों को आदर्श मानकर संस्कृत के ऐतिहासिक ग्रन्थों की आलोचना करना सर्वथा अनुचित है। भारतीय आदर्श के अनुसार इतिहास का उद्देश्य तिथियों या घटनावलियों का वर्णन करना नहीं, प्रत्युत जीवन के शाश्वत सिद्धान्तों को महापुरुषों के जीवन में घटाते हुए राष्ट्र के सांस्कृतिक उत्थान में योग देना है।

यह है हमारे भारतीय इतिहास का दृष्टिकोण; और इसी दृष्टिकोण से हमारे पुराण, रामायण, महाभारत भारत के सच्चे इतिहास हैं यह माना जाता है।

दैवी तथा पौराणिक विभूतियों के इतिहास रक्षा की आवश्यकता—

भारतीयों ने राम-कृष्णादि दैवी विभूतियों और नल-युधिष्ठिरादि पौराणिक व्यक्तियों को ही जातीय इतिहास का वास्तविक प्रतिनिधि माना है। अतः उन्हीं के काव्यमय इतिहासों को अध्ययनाध्यापन परम्परा के द्वारा सुरक्षित रखा गया। इसका कारण यह था कि अलौकिक विभूतियों के चरित्र में मानवजाति के चिरन्तन आदर्शों का प्रतिबिम्ब सञ्चित रहता है।

इतिहास की पृष्ठभूमि पर काव्य-चित्रण—

हमारे यहाँ रघुवंश से लेकर नैषधादि प्रायः सभी काव्य, इतिहास की आधार भित्ति पर ही चित्रित किये गये हैं। इतिहास-भित्ति पर कुछ दैवी विभूतियों, पौराणिक एवं लौकिक व्यक्तियों का भी काव्यचित्रण हुआ है।

भारत के ऐतिहासिक ग्रन्थों के नष्ट होने में कारण—

इनके देखने से संस्कृत में अनेकानेक प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्रन्थों की रचना हुई थी इसमें सन्देह नहीं रहता। आधुनिक ऐतिहासिक विद्वानों से यह बात छिपी नहीं है कि भारत पर समय-समय पर कैसे-कैसे विध्वंसकारी विधर्मियों के आक्रमण हुए और उसमें हमारा उत्कर्षद्योतक साहित्येतिहास किस तरह नष्ट

किया गया। यहाँ तक कि जल गर्म करने के काम में भी भारतीय ग्रन्थों का उपयोग किया गया। तथापि जो कुछ अवशिष्ट रह पाया उनका धीरे-धीरे अन्वेषण हो रहा है। उनमें अंशतः उपलब्ध भी हुए हैं।

भारतीय प्राचीन विद्वानों की उत्साहशीलता के दर्शन में हेतु प्राचीन विद्वानों की इतिहासप्रियता—

अतः पाश्चात्य विद्वानों के स्वर में अपना स्वर मिलाकर बेसुरा राग अलापना भारतीय विद्वानों को शोभा नहीं देता। जब हम अपने प्रति अपनी उदासीनता का त्याग करेंगे तभी प्राचीन भारतीय विद्वानों की उत्साहशीलता को हम देख सकेंगे। अन्यथा अपनी उदासीनता, प्राचीन विद्वानों की उदासीनता के रूप में दिखाई देने का भ्रम सर्वदा के लिये स्थिर रहेगा। यह भूलना नहीं होगा कि आधुनिक प्राच्य पाश्चात्त्य विद्वानों ने एक अद्भुत विधि से जो भारत के इतिहास लिखे हैं उन सब के मूल आधार रूप में वे ही प्राचीन शिलालेख, ताम्रलेख तथा प्रशस्तियाँ ही हैं जो भारत के प्राचीन विद्वानों की इतिहासप्रियता को स्पष्ट करती हैं।

'विक्रमांकदेव चरित' महाकाव्य की प्राप्ति—

प्रस्तुत 'विक्रमांक देवचरितम्' महाकाव्य भी साहित्येतिहास रसिक अन्वेषक विद्वानों के ही अन्वेषण का फल है। ई० स० १८७४ में शर्मण्यदेश (जर्मन) के विद्वान् इतिहासाचार्य डॉ० जार्ज व्युह्लर महोदय अपने मित्र डॉ० एच्० जेकोबी महोदय के साथ 'राजपूताना' प्रदेश में परिभ्रमण करते हुए जैसलमेरस्थ 'बृहज्ज्ञानकोष' भाण्डार में पहुँचे। वहाँ उन्हें ताडपत्र पर लिखी उपर्युक्त 'विक्रमांक देवचरित' नामक महाकाव्य की पुस्तक (प्रतिलिपि रूप में) मिली। उस काव्य को देखकर वे अत्यन्त प्रभावित हुए। समयाभाव के रहते हुए भी डॉ० जैकोबी की सहायता से उन्होंने सात दिन के भीतर ही इस महाकाव्य की प्रतिलिपि कर ली; और उसके अग्रिम वर्ष ही अपनी विस्तृत भूमिका के साथ मुंबई संस्कृत ग्रंथमाला से इस महाकाव्य को सर्वप्रथम प्रकाशित करवाया। यह भूमिका डॉ० महोदय के परिश्रम, उच्चकोटि की गवेषणा तथा सतत अनुशीलन का परिचय देती है। भूमिका में महाकाव्यगत समस्त विषयों का विवेचन बड़ी विशदता से किया गया है।

विल्हण तथा उनकी कृति पर देशी-विदेशी विद्वानों का दृष्टिपात—

तदनन्तर सर श्रीरामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर ने अपने 'Early History of the Deccan' ग्रन्थ में, श्री जे० एफ० फ्लीट महोदय ने अपने 'Dynastics of the Kanarese Districts' ग्रन्थ में तथा अन्यान्य विद्वानों ने भी अपने-अपने ग्रन्थों में चालुक्य वंश के इतिहास को बड़े विस्तार के साथ लिखा है। श्री म० म० गौरीशंकर हीराचन्द महोदय ने ई० स० १९०७ में 'सोलंकियों' (चालुक्य) का प्राचीन इतिहास प्रकाशित किया था। इसी वर्ष पं० श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी महोदय की 'विक्रमांकदेव चरितचर्चा' भी प्रकट हुई। इसमें डॉ० ब्यूह्लर महोदय की लिखी भूमिका में जो बातें हैं उन्हीं का अनुवाद किया ज्ञात होता है। श्री एस्० के० कृष्णस्वामी ऐयंगार, श्री डी० सी० गाङ्गुली, श्री ए० वी० वेंकटराम प्रभृति विद्वानों ने अपने-अपने ग्रन्थों में तथा सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में चालुक्य तथा विल्हण के विषय में बड़ी युक्तिपूर्ण विवेचना कर बहुत कुछ प्रकाश डाला है।

प्रस्तुत महाकाव्य के मूलस्वरूप की दुर्दशा—

चालुक्यों के सम्बन्ध में उपर्युक्त बड़े-बड़े विद्वानों की जितनी भी गवेषणायें हुई वे सब अन्यान्य साधनों का अवलंब लेकर की गई थीं। मूलकाव्य का किसी ने भी अच्छी तरह न तो अनुशीलन किया और न काव्य के मूलस्वरूप में संशोधन ही। डॉ० ब्यूह्लर के प्रथम संस्करण की आलोचना करते हुए 'इण्डियन एण्टिक्वेरी' के संपादक महोदय ने कहा था—'काव्य के मूलस्वरूप का बड़ी सावधानी से संशोधन किया गया है, कहीं पर विसर्ग या अनुस्वार लगाने की आवश्यकता कदाचित् ही प्रतीत होगी।'

परन्तु भारतीय मर्मज्ञ विद्वानों ने उस संस्करण को जब देखा, तब उन्होंने उसमें दो सौ (२००) अशुद्धियाँ तथा असंगत पाठों को पाया। तदनन्तर पं० श्री रामावतार शर्मा के नाम पर द्वितीय संस्करण प्रकाशित हुआ तो उसमें भी द्विगुणित अशुद्धियाँ भरी मिलीं।

प्रस्तुत महाकाव्य का शुद्ध संस्करण—

परन्तु बड़े हर्ष की बात है कि ई० स० १९४५ में साहित्याचार्य, शास्त्री श्री मुरारीलाल नागर महोदय ने सरस्वती भवन काशी से इस काव्य का तृतीय

संस्करण जो प्रकाशित किया है वह नितान्त शुद्ध है। उन्होंने उसमें पाठभेदों का भी जहाँ-तहाँ उल्लेख किया है। साथ में अपनी विस्तृत भूमिका, जो बड़ी छानबीन के साथ लिखी गई है उसे भी जोड़ दिया है। यह भूमिका वैदेशिक विद्वानों तथा उनके पदचिह्नों पर चलने वाले देशी विद्वानों की अनेक भ्रमपूर्ण धारणाओं को प्रकाशित करने में नितान्त समर्थ है। कादम्बरी रचयिता श्री वाणभट्ट के 'अपरिचितानि दैवतान्यप्यनुचितपरिभवभाञ्जिभवन्ति' कथनानुसार 'विक्रमाङ्कदेवचरित' जैसे दिव्य महाकाव्य की वर्षानुवर्ष तक की गई उपेक्षा को अपेक्षा में परिणत किया। तदर्थं श्री शास्त्री नागर महोदय साहित्यिकों के हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

तदनन्तर सन् १९५८ में पं० प्र० श्री विश्वनाथ शास्त्री भारद्वाज महोदय ने अपनी संस्कृत-हिन्दी व्याख्या के सहित उक्त महाकाव्य का सम्पादन कर चिरस्थायी उद्धार कर दिया है, तदर्थं श्री शास्त्री जी भूरिशः धन्यवादार्ह हैं।

प्रस्तुत महाकाव्य का कालनिर्णय—

प्रस्तुत 'विक्रमाङ्कदेवचरितम्' महाकाव्य के रचयिता काश्मीर के महाकवि भट्ट श्री विल्हण हैं। इनका यह महाकाव्य एक ऐतिहासिक महाकाव्य कहा जाता है। इसका रचनाकाल अनुमानतः १०८५ ई० लगभग होना चाहिये। क्योंकि कवि ने विक्रमादित्य के दक्षिणाक्रमण का वर्णन नहीं किया, और काश्मीर के हर्षदेव की युवराज अवस्था का वर्णन किया है। हर्ष के गद्दी पर आने के उपरान्त थोड़े ही समय में इस कवि की मृत्यु हुई।

काव्यगत वर्णन—

इस काव्य के अठारह (१८) सर्ग हैं। कवि ने अपने इस काव्य के सतरह (१७) सर्ग तक चालुक्यवंश तथा विक्रमादित्य षष्ठ (कल्याण चालुक्यवंशीय विक्रमांकदेव) का चरित्र वर्णन किया है, और अठारहवें सर्ग में काश्मीर तथा वहाँ के नृपतियों का वर्णन कर आत्म-चरित्र को भी अंकित किया है।

इस महाकाव्य में कवि ने इतिहास के तथा काव्य के तत्वों का सन्निवेश सुचारुता से किया है। ऐतिहासिक घटनाओं का काव्यमय वर्णन बड़ी तत्परता के साथ किया है। कल्याण के चालुक्यवंशीय राजाओं के शिलालेखों के देखने से

इस काव्य में वर्णित घटनाओं की पुष्टि होती है। दक्षिण भारत की तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति का विशद रूप से परिचय उपलब्ध होता है। चोलों (द्रविड) और चालुक्यों के पारस्परिक सम्बन्ध का तथा दक्षिण के तत्कालीन राज्यों के विस्तार का अच्छा परिचय प्राप्त होता है। कवि ने अपने देशाटन का जो वर्णन किया है उससे तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति का भी पर्याप्त परिचय मिलता है।

भारतीय महाकाव्य की आलोचना के लिये भारतीय दृष्टिकोण की आवश्यकता—

पहले हम बता चुके हैं कि इस महाकाव्य तथा उसके कवि बिल्हण के सम्बन्ध में कतिपय विद्वानों ने समय-समय पर बहुत कुछ युक्तिपूर्ण विवेचना के साथ लिखा है, अतः उनमें से ही प्रथितयशस्क डॉ० ब्यूह्लर तथा हिन्दी-साहित्य के आचार्य पं० श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी इन दो विद्वानों की आलोचना के कतिपय उदाहरणों की ओर भारतीय दृष्टिकोण से देखकर विचार करेंगे। समस्त काव्य की आलोचना तो बहुत बड़ी है, उसके प्रत्येक अंश को लेकर अपनी भारतीय दृष्टि से करना इस छोटी-सी पुस्तिका के लिये अनुपयोगी होगा। इन दोनों विद्वानों की विदेशी दृष्टिकोण से की हुई आलोचना को भारतीय दृष्टिकोण से देखना हो तो श्री मुरारीलाल नागर महोदय की भूमिका को पढ़ें।

हिन्दी के आचार्य श्री द्विवेदी जी की ऐतिहासिक दृष्टि से आलोचना—

"विक्रमाङ्कदेवचरित, जीवनचरितों में गिना तो अवश्य ही जा सकता है, किन्तु उसमें चरित सम्बन्धी सामग्री अधिक नहीं है। कवि ने साहित्यशास्त्र के नियमों का अनुसरण करके अनेक सर्ग ऋतु, जलविहार, वाटिकाविहार, सायं और प्रातःकाल आदि के वर्णन से भर दिये हैं। आदि से लेकर अन्त तक इस काव्य के लिखे जाने की प्रणाली ऐसी आलंकारिक और अतिशयोक्तियों से परिपूर्ण है कि कहीं-कहीं वर्णन करने योग्य मुख्य-मुख्य बातें भी छूट गई हैं और यदि नहीं भी छूटीं तो अप्रासंगिक विषयों के वर्णन से ऐसी ढँक-सी गई हैं कि उनका पता लगाना कठिन-सा हो गया है। विक्रमाङ्कदेव और उनके पिता आहवमल्ल

की कवि ने बहुत प्रशंसा की है। वे राम, कृष्ण, युधिष्ठिर, नल, दुष्यन्त के समान आदरणीय, दोषरहित, वीर और विजयी बतलाये गये हैं। आहवमल्ल के पिता जयसिंह के विषय में तो बिल्हण ने यहाँ तक लिखा है कि इन्द्र ने अपने हाथ से उसके कण्ठ में पारिजात की माला पहना दी। लीजिये पारिजात की माला जयसिंह के गले में पड़ गई। विक्रमांकदेव के आश्रय में रह कर उसकी और उसके वंशजों की स्तुति करना कवि का धर्म था, यह हमने माना; परन्तु फिर भी योग्यायोग्य का विचार करना भी उचित था। नितान्त असम्भव बातों का ऐतिहासिक काव्यों में न वर्णन करना ही अच्छा था। क्योंकि वर्णित घटनाओं की तिथियाँ उपलब्ध नहीं होतीं। कवि ने चरित्रनायक का चित्रण अतिशयोक्ति से अतिरंजित भी किया है। कई स्थलों पर पौराणिक और अलौकिक प्रसंगों का भी उल्लेख किया है। इन बातों से काव्य का ऐतिहासिक महत्त्व कम हो गया है।"

पं० श्री द्विवेदी जी की आलोचना का अनौचित्य—

पं० श्री द्विवेदी जी की उपर्युक्त समालोचना को पढ़कर कौन विश्वास कर सकता है कि यह आलोचना कवि हृदय को परखने वाले एक साहित्य-रसिक के द्वारा की गई हो। ऐसी समालोचना तो कोई शुष्क ऐतिहासिक ही कर सकता है। वे बिल्हण को एक महाकवि के रूप में पहचानते हुए भी आलोचना के समय ऐतिहासिक धारा के प्रवाह में स्वयं ही ऐसे बह गये कि उसके कविरूप को भूलकर उसे केवल ऐतिहासिक विद्वान् ही समझ बैठे।

काव्यतत्त्व तथा ऐतिहासिक तत्त्वों में भेद—

आलोचक को सदैव स्मरण रखना होगा कि काव्यतत्व और इतिहास के तत्व नितान्त भिन्न होते हैं, अतएव दोनों तत्वों की आलोचना-पद्धति भी भिन्न है।

महाकवि के काव्य में आलोचक को दोष दिखाई देने में कारण—

परन्तु जब आलोचक ऐतिहासिक भावना के आवेश में आकर दोनों तत्वों की भिन्नता को भूल जाता है तो दोनों को एक ही समझकर इस प्रकार की आलोचना के द्वारा दोषों की भरमार पैदा कर देता है। ऐसा होने में आलोचक

की शुष्क ऐतिहासिक दृष्टि ही एकमात्र कारण है। किसी प्रकार के एक विशेष मत के बना लेने पर प्रत्येक वस्तु तदनुसार ही दिखाई देने लगती है। भग्नोपनेत्र धारक व्यक्ति को अभिन्न वस्तु भी भिन्न हुई सी दिखलाई पड़ती है।

किसी काव्य की आलोचना काव्य के तत्वों को ध्यान में रखते हुए कवि हृदय से ही होनी चाहिये, जैसी हुआ करती है। कवि ही कवि के सरस हृदय को पहिचान सकता है।

इतिहास का निष्पक्ष होना यद्यपि लोकसंगत है तथापि यह भूलना न होगा कि वह केवल सिद्धान्तरूप में है। आज निष्पक्ष इतिहासों की संख्या का अभाव है।

विल्हण का स्वरूप तथा उसका अभीप्सित—

विल्हण इतिहासपटु नहीं है और न उसने अपने को वैसा होना ही कहीं बताया है। वह अपने को स्वयं 'कवि' कहता है और आज तक उसकी कीर्ति कवि के रूप में ही सर्वत्र प्रसृत है। उसे तो स्वसामयिक और सर्वरीति से योग्य नायक को अवलम्बन कर काव्य रचना ही अभीष्ट था। इतिहास लिखने की बात का तो उसने स्वप्न में भी सोचा न होगा।

इतिहास की पृष्ठभूमि को आधार मानकर उस पर वह यदि काव्यचित्र निर्माण करता है तो पृष्ठभूमि का गौण रूप से रहना स्वाभाविक ही है। ऐसी स्थिति में कवि कैसे भला उपालंभ का पात्र हो सकता है। अतः डॉ० व्यूह्लर तथा पं० श्री द्विवेदी महोदयों ने कवि पर जो उपालंभ किया है वह अनुचित है।

चरितनायक के प्रति कवि की भावना—

कवि को ऐसा विश्वास है कि राजाओं के यशापयश कवि की प्रतिभा पर अवलंबित होते हैं उनके पुण्य-पाप पर नहीं। कवि ने काव्यनायक के पवित्र पद पर उसी को रखा, जिसने उसको अत्यन्त आदरणीय 'विद्यापति' पदवी से गौरवान्वित किया था। कवि के हृदय में उस महापुरुष के प्रति विष्णु से भी अधिक श्रद्धा थी। कवि स्वयं कहता है—

गिरां प्रवृत्तिर्मम नीरसापि मान्याभविত्री नृपतेश्चरित्रैः।
के वा न शुष्कां मृदमभ्रसिन्धुसम्बन्धिनीं मूर्धनि धारयन्ति॥

ऐसी स्थिति में कवि अपने काव्यनायक को काव्योचित अलंकारों से यदि विभूषित करता है तो उसे हम अनुचित कैसे कह सकते हैं।

अलौकिक सृष्टि की रचना में कवि की स्वतन्त्रता—

पृथ्वी पर कोई ऐसा मनुष्य नहीं है जो सर्वथा निर्दोष हो। काव्यनायक के गुणों का वर्णन करना तो कवि-कर्तव्य के अन्तर्गत है। नायक के दोषों को बताकर काव्य को कलङ्कित करनेवाले को 'कवि' नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि कवि अपने काव्य में नायकगत दोषों की सर्वथा उपेक्षा किया करते हैं, और सुन्दरता से उसे सजा देते हैं क्योंकि अपनी अलौकिक सृष्टि की रचना में वे स्वतंत्र रहते हैं।

अलंकारशास्त्र का यह नियम है—

'यत्स्यादनुचितं वस्तु नायकस्य रसस्य वा।
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ॥'

कवि की अद्भुत कल्पना में भी सत्यांश—

कवि किसी आधार पर ही अपनी अद्भुत कल्पना को चित्रित करता है। वाणभट्ट ने कादम्बरी में उस अनुपम ऐश्वर्य तथा आमोदप्रद पदार्थों का वर्णन किया है जो आज हम भारतीयों की कल्पना से परे हैं। परन्तु 'हर्षवर्धन' के साम्राज्य-वैभव को जब हम सोचते हैं तब वाणभट्ट का किया वर्णन उचित प्रतीत होने लगता है।

'मेगस्थिनीज' नामक एक वैदेशिक विद्वान् जो भारत में कुछ वर्ष रहा था, अपने संस्मरण में लिखता है—'भारत में मैंने किसी को भी मिथ्याभाषी नहीं पाया'। मेगस्थिनीज की इस उक्ति पर क्या आज का भारतीय विश्वास कर सकता है?

आज से कितने ही वर्ष पूर्व दिग्दिगन्तकीर्ति महापण्डितों ने तथा बड़े-बड़े शूर-वीर राजा-महाराजाओं ने जो अद्भुत कार्य किये, जिन्हें सुनकर आज का भारतीय उन्हें असत्य तथा अतिशयोक्ति आदि कह कर हँस देता है। क्योंकि यह उन महामहिमशालियों से अपनी तुच्छ बुद्धि, शक्ति, विद्वत्ता, संपत्ति, उदारता की निरन्तर तुलना करता रहता है। परन्तु ऐसी तुलना मच्छर और गरुड़ की तुलना के ही समान है।

आलोचक को देश, काल, परिस्थिति तथा उसके परिवर्तनशीलता की ओर भी ध्यान रखना आवश्यक होता है। शताब्दियों पूर्व निर्मित काव्य की, आज की अवस्था के अनुसार आलोचना कर उसमें दोष निकालना प्रशंसनीय कार्य नहीं कहा जा सकता।

देश, काल, परिस्थिति कवि को कहाँ तक प्रभावित रखती है इसका एक उदाहरण बड़ा ही मनोरञ्जक है। पाश्चात्त्य देश के महाकवि श्री शेक्सपीयर महोदय ने समुद्र के उन्माद का वर्णन किया है—'जलता हुआ आकाश मानो काजल बरसा रहा है, समुद्र की उत्ताल किलोलें आकाश में पहुँचकर आग को बुझा रहीं हैं'—आदि।

इस वर्णन की आज के युग में असंगति प्रतीति होती हुई भी उस समय के लोगों के लिये संगत प्रतीत होती है।

विल्हण के समय में और आज की स्थिति में बहुत बड़ा अन्तर हो गया है। केवल शूरता में ही नहीं अपितु उनके आचरणादि भी आज की अपेक्षा अति प्रशंसनीय थे। आज उपलब्ध होते हुए कितने ही अवशेष चिह्नों तथा ऐतिहासिक प्रमाणान्तरों से काव्यगत बातों में सहसा अविश्वास कैसे किया जाय। अतः कविकृत वर्णन को अतिशयोक्ति से अतिरंजित कहकर कवि का उपहास करना शोभनीय नहीं।

आलंकारिक शैली से परिहार्यवस्तु का प्रतिपादन—

काव्य का नियम है कि 'अमंगल परिहार पुरःसर वर्णन करे'; अतः कविजन मृत्यु आदि अमंगल वृत्त को ऐसी आलंकारिक भाषा में कह देते हैं जिससे सहृदय लोग समझ जाते हैं। जैसे—'जयसिंह के गले में इन्द्र ने माला पहनाई'। अतः ऐसी आलंकारिक बातों को देखकर कवि पर आलोचक को रोष नहीं करना चाहिये।

महाकाव्य का स्वरूप—

कवि जब महाकाव्य की रचना के लिये उद्यत होता है तो उसे उसके लक्षणों को ध्यान में अवश्य रखना पड़ता है और तदनुसार ही अपनी रचना करनी

होती है। तभी वह 'महाकाव्य' कहलाने योग्य होता है, अन्यथा नहीं। महाकाव्य का लक्षण इस प्रकार है—

'सर्गबन्धोमहाकाव्यं'·········'प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः। संभोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्ग पुराध्वराः' वर्णनीयाः' "ऋतु, जलविहार, वाटिकाविहार, पुष्पावचय, सायंकाल तथा प्रातःकाल, नायक-नायिका आदि का वर्णन अप्रासंगिक है, तथा सातवें से लेकर तेरहवें सर्ग तक सब वर्णन अनावश्यक है"।

यह कैसे कहा जा सकता है? यदि इनका वर्णन न किया होता तो इसकी 'महाकाव्य' में गणना कैसे होती? क्योंकि ऋतु, नायक-नायिका आदि का वर्णन ही तो महाकाव्य का लक्षण माना गया है।

जर्मन पण्डित की असंगत बातें—

इसी प्रकार इतिहासाचार्य डॉ० ब्युहलर महोदय भी कहीं कुछ और कहीं कुछ कहते दिखाई देते हैं। कहीं-कहीं कवि के आशय को विना समझे मनमानी व्याख्या करते पाये जाते हैं। जैसे—

'महाभाष्यव्याख्यां सकलजनवन्द्यां विदधतः।
सदा यस्यच्छात्रैस्तिलकितमभूत् प्राङ्गणमपि॥

" 'ज्येष्ठकलश' ने महाभाष्य पर टीका वनाई थी, यह टीका न कहीं मिलती है, न सुनाई देती है।"

उपर्युक्त डॉ० ब्युहलर का कथन ठीक नहीं है। क्योंकि यहाँ 'व्याख्या' का अर्थ है 'व्याख्यान'। वह महाभाष्य की व्याख्या करने में पढ़ाने में अत्यन्त कुशल था—यह कवि का आशय है। श्लोक का उत्तरार्ध ही इस आशय को स्पष्ट कर रहा है।

काश्मीर में वहुत से व्याख्यास्थान बने हुए थे। काश्मीरी विद्वान् व्याख्यान करने में बड़े कुशल हुआ करते थे। इस बात को कवि ने स्वयं दो पद्यों में बताया है।

• यथा—

उत्तुङ्गानां मणिगृहभुवां यत्र वातायनेषु
व्याख्याभिख्याप्रणयिनि जगद्दुर्लभे सूरिचक्रे।

देवाः प्रोद्यद्विपुलपुलकाः किं न वर्षन्ति पुष्पै-
र्नाशङ्कन्ते यदि सुरगुरोस्तत्र वैलक्ष्यदीक्षाम् ॥ १८।४ ॥
द्राक्षापूर्णान्यखिलजनताभोगहेतोर्वनानि
व्याख्यास्थानान्यमलसलिला यस्य कूपाः प्रपाश्च ।
स्थाने स्थाने सुकृतवसतेर्मण्डलाग्रावतंसा
धर्मस्याविष्कृतकलिभयस्याङ्गरक्षा बभूवुः ॥
॥ १८।७८ ॥

डॉ० महोदय के अनुसार 'व्याख्यां विदधतः' का टीकानिर्माणपरक अर्थ करने पर कवि ने जो छात्रों का निर्देश किया है वह असंगत हो जाता है। तथा व्याकरण की दृष्टि से भी 'कृतवतः' पद से ही यदि तात्पर्य का बोध हो जाय तो वर्तमान काल का प्रयोग व्यर्थ ही हो जायगा।

इतिहास विशेषज्ञ डॉ० ब्युहलर महोदय एक जगह लिखते हैं—"कवि विल्हण जब धारानगरी में पहुँचे तब राजा भोज विद्यमान था, किन्तु कुछ कारणों से कवि उसको नहीं देख सका। और यह भी उसी ने लिखा है कि कर्णदेव और भोजराज इनका परस्पर दौर्मनस्य था इसलिये कर्णदेव का कृपा-पात्र कवि धारा नगरी नहीं गया।"

डॉ० महोदय की ये दोनों उक्तियां परस्पर विरुद्ध हैं और दोनों असंगत भी हैं।

क्योंकि—भोजराज ई० १०५५ से पूर्व ही स्मृतिशेष (मृत) हो गया था। विल्हण ई० १०६२–१०६५ के बीच में अपनी जन्मभूमि काश्मीर से देशाटनार्थ निकला था। अतः विल्हण के वहाँ पहुँचने के समय भोजराज का जीवित होना कैसे संगत हो सकता है?

अब 'अपने कर्णदेव के साथ भोज के दौर्मनस्य के कारण कवि, भोजनगरी धारा में नहीं गया' इस कथन की असंगति को भी देखिये—

'भोजः क्ष्माभृत्स खलु न खलैस्तस्य साम्यं नरेन्द्रै-
स्तत्प्रत्यक्षं किमिति भवता नागतं हा हतास्मि ।
यस्य द्वारोड्डमरशिखरक्रोडपारावतानां
नादव्याजादिति सकरुणं व्याजहारेव धारा ॥

इस पद्य का अर्थ ठीक लिखकर भी उसके तात्पर्य को डॉ० महोदय विपरीत समझ बैठे हैं।

यदि कवि स्वयं 'धारा' न गया होता तो पद्यगत 'भवता' पद से धारा ने उसे कैसे सम्बोधित किया होता ? तब 'भवता' पद का कुछ अर्थ ही नहीं रहेगा। और भोज यदि उस समय जीवित होता तो 'हा हताऽस्मि' यह धारा की खेदोक्ति कैसे निकलती ? पद्यगत—'तत्प्रत्यक्षम्' पद का अर्थ 'तस्य पुरस्तात्' डॉ० महोदय ने स्वयं किया है। डॉ महोदय स्वयं की हुई व्याख्या को स्वयं ही नहीं समझ पाये।

एक और तीसरा उदाहरण भी देखिये जिसमें डॉ महोदय 'असंगत पाठ' को 'संगत पाठ' समझे हैं—'यस्या भ्राता क्षितिपतिरिति क्षात्रतेजोनिधानम्' डॉ० महोदय ने अपने संस्करण में इस असंगत पाठ को स्वीकार कर 'क्षितिपति सुभटा का भाई था' ऐसी व्याख्या भी की है।

श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी प्रभृति विद्वानों ने भी ऐसे अनेक स्थलों पर विना सोचे-समझे डॉ० महोदय का बड़ी श्रद्धा से अनुकरण किया है। ऐसा ज्ञात होता है कि मानो ये विद्वान् डॉ० महोदय के गौरवर्ण से या जर्मन पाण्डित्य से प्रभावित होकर अपने स्वरूप को ही खो बैठे हों।

वास्तव में 'यस्य भ्राता क्षितिपतिरिति' यह संगत पाठ है। क्षितिपति अनन्तदेव का चचेरा भाई था जैसा कि राजतरङ्गिणी में निर्दिष्ट किया है—

'पुत्रो विग्रहराजस्य क्षितिराजाभिधस्ततः।
राज्ञः पितृव्यजो भ्राता कदाचित् पार्श्वमाययौ॥'

राज्ञः = अनन्तदेवस्येत्यर्थः।

डॉ० महोदय ने अपने संस्करण की भूमिका में 'सार्धगव्यूति' पद का अर्थ 'डेढकोस' किया है।

यह भी असंगत है। 'गव्यूतिः स्त्रीक्रोशयुगम्' इस अमरकोष से 'गव्यूति' का अर्थ 'दो कोस' होता है। और यही ठीक है। इस बात को पश्चात् स्वीकार कर उन्होंने अपनी गुणग्राहकता का परिचय भी दिया है।

डॉ० महोदय ई० १८७५ में काश्मीरभ्रमण करते-करते विल्हण की जन्मभूमि

के दर्शन कर पाये। उसे देखकर विल्हण के किये वर्णन की यथार्थता का अनुभव जब हुआ तब वह अत्यन्त चकित हो उठे और कहने लगे कि 'गव्यूति' का अर्थ 'दो कोस' ही होना ठीक है। मेरा पहले किया हुआ अर्थ असंगत है। 'प्रवरपुर' से 'जयवन' २॥ कोस से किसी तरह न्यून नहीं है, तथापि अन्य पाश्चात्य प्रभावित विद्वान् उसी असंगत पाठ को शुद्ध समझ कर दुहराते रहते हैं।

भारतीय संस्कृत प्रोफेसरों का पाश्चात्यों के प्रभाव से प्रभावित होने का कुपरिणाम—

डॉ० महोदय ने कवि के गाँव का नाम 'खोनमुख' बताया है। वस्तुतः 'खोनमुष' अथवा 'खुनमुष' नाम से वह गाँव प्रसिद्ध है। 'राजतरंगिणी' से भी यही नाम ज्ञात होता है। आज उसे 'खुनमोह' कहते हैं। परन्तु सभी इतिहास लिखने वालों ने विल्हण के वर्णन में 'खोनमुख' इस अशुद्ध नाम को ही दुहराया है। ऐसी अनेक असंगतियों के रहते भी डॉ० श्रीव्युहलर महोदय की संस्कृत साहित्य के प्रति दृढ़ लगन तथा गुणग्राहकता नितान्त प्रशंसनीय है। उनके अनुकरणीय गुणों का हम आदर करते हैं।

असंगत आलोचना का अनौचित्य प्रदर्शन करने का उद्देश्य—

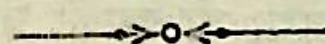
पूर्वकृत असंगत आलोचनाओं का अनौचित्य प्रदर्शित करने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि अब समय बहुत परिवर्तित हुआ है। परमेश्वर की निःसीम कृपा से आज हम एक स्वतंत्र राष्ट्र के नागरिक कहे जाते हैं। अतः गुणग्राहकता के भाव को सुरक्षित रखना तो आवश्यक है, साथ ही साथ स्वाभिमान को भी जागृत रखना नितान्त आवश्यक है। अपने साहित्य, जाति, राष्ट्र तथा पूर्वजों के प्रति श्रद्धा तथा स्नेहपूर्ण हृदय की आज आवश्यकता है। तभी हमारा और हमारे राष्ट्र का उत्थान हो सकेगा। विदेशियों का अनुकरण करने की प्रवृत्ति को सर्वथा त्यागना चाहिये। इस अनुकरण प्रवृत्ति का ही यह दुष्परिणाम है कि डॉ० व्युहलर महोदय तथा विण्टरनीज आदि पाश्चात्य विद्वानों के मत सर्वथा असंगत होने पर भी पाश्चात्य प्रभाव से प्रभावित बड़े-बड़े संस्कृत के प्रोफेसर वेदवाक्य की तरह उन्हें निःशंक होकर दुहराते रहते हैं।

प्रस्तुत महाकाव्य का ऐतिहासिक महत्त्व

कल्याण के चालुक्य वंशी नरेशों का इतिहास जानने के लिये यह 'विक्रमांकदेवचरित' नामक महाकाव्य परमोपयोगी है। भारत के प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थों में कवि कल्हण की—राजतरंगिणी, और बाणभट्ट के हर्षचरित्र के पश्चात् महाकवि विल्हणकृत विक्रमांकदेवचरित महाकाव्य ही विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

कवि की सफलता

'काश्मीर से ही केशर और कविता विलास पैदा होते हैं' कवि की यह गर्वोक्ति असंगत नहीं है। 'तत्कालीन हजारों काव्यप्रबन्धों से भी बढ़कर चमत्कार जनक काव्य बनेगा' कवि की यह प्रतिज्ञा प्रारम्भ में ही दृष्टिगोचर होती है, और कवि ने अपने विचारों को पूर्ण आत्मविश्वास के साथ स्पष्टतया प्रकट कर दिया है। आधुनिक अंग्रेजी शिक्षादीक्षित संस्कृत-प्रोफेसरों के कथनानुसार उसकी उक्तियों में गर्व की झलक रहने पर भी, यह निःसंशय कहा जा सकता है कि कवि अपनी प्रतिज्ञा के पालन करने में पूर्णतया सफल हुआ है।



कवि-परिचय तालिका

देश	काश्मीर
विशेषता	जो शारदा का देश कहा जाता है, जहां केशर और अंगूर होते हैं। जहाँ[1] पर स्त्रियां संस्कृत तथा प्राकृत भाषा बोलती थीं।
ग्राम	प्रवरपुर (श्रीनगर) से २॥ कोस जो आजकल 'खुनमोह' कहलाता है। प्राचीन नाम खोनमुष।
प्रपितामह	मुक्तिकलश।
पितामह	राजकलश।
पिता	ज्येष्ठ कलश (यह पातंजल भाष्य की व्याख्या (व्याख्यान) बहुत सरल तथा सुविशद करते थे।)
माता	नागादेवी।
ज्येष्ठ भ्राता	इष्टराम।
कनिष्ठ भ्राता	आनन्द।
कवि का अध्ययन-स्थान तथा अध्ययन	काश्मीर। साङ्गवेद, महाभाष्यानुसार व्याकरण, अन्य शास्त्र तथा साहित्यविद्या जो इसकी प्राण तुल्य थी।
कवि-कृति	१ कर्ण सुन्दरी नाटिका, (२) चौरसुरतपंचाशिका। 'अद्यापि तां कनकचम्पकदामगौरीम्' इत्यादि ५० पद्यों से यथार्थ में चोरी से सुरत अभिप्रेत है या अन्योक्तिमात्र है, यह निर्णय करना दुष्कर है। (३) सुभाषित ग्रन्थों में विल्हण के नाम से अंकित बहुत श्लोक उपलब्ध होते हैं। (४) जल्हण गुम्फित सूक्ति—मुक्तावली में विल्हण के १०८ श्लोक हैं। (५) विक्रमांक चरित महाकाव्य।

१. 'यत्र स्त्रीणां विलसति वचः प्राकृतं संस्कृतं च'

कवि का पर्यटन—यमुना मार्ग से मथुरा, वृन्दावन, कान्यकुब्ज, प्रयाग, काशी, अयोध्या, धारा, गुर्जर प्रान्त, सोमनाथ, दक्षिण भारत, रामेश्वर, कल्याण नगर।

प्रसिद्धि सरस मधुर प्रसाद गुण तथा अनूठी उक्तियों के कारण इनका काव्य, मूर्ख से विद्वान् तक, रङ्क से राजा तक, स्त्री-बालक, वृद्ध तक सभी लोगों को प्रिय होने से प्रत्येक देश, ग्राम, नगर, राजधानी, विद्याकेन्द्रों में फैला था। (उपलब्ध काव्यों से अधिक विल्हण के काव्य होने चाहिये।)

मानीत्व— साधारण पण्डितों को तो प्रणाम दूर से ही करता था। शास्त्रार्थ में प्रसिद्ध पंडितों को जीतना, यह इसका स्वभाव था।

औदार्य— तीर्थराज प्रयाग में अनेक वार मुक्तहस्त से अर्जित लक्ष्मी का दान किया जो विश्व में अपने अद्भुत गुणगणों से प्राप्त की थी।

विजय— महाकवि विल्हण ने अनेक स्थानों में शास्त्रार्थ किये, विजय पाई परन्तु किसी स्थान में किसी विद्वान् का नाम निर्देश पं० गंगाधर को छोड़कर नहीं किया।

राजा कर्ण 'डाहलाधिपति' जिनका आधिपत्य उस समय काशी पर था। वे गुणग्राही विद्वान थे, उनसे कवि का परिचय हुआ था, उस समय में विद्याकेन्द्र काशी में पं० गंगाधर उद्भट विद्वान् और कवि थे। इनसे विल्हण ने शास्त्रार्थ में विजय पाई, अतः इनका नामनिर्देश किया है।

सर्ग १८ श्लो० ९६

विद्यापतिपदप्राप्ति—राजतरंगिणीकर्ता कल्हण लिखते हैं—

'काश्मीरेभ्योविनिर्यातं काले कलशभूपतेः।
विद्यापतिं यं कर्नाटश्चक्रे परमाडि भूपतिः॥'



महाकवि श्रीविल्हण की आत्मकथा।

प्रकृत काव्य के अन्तिम सर्ग १८ वें में ६९ पद्यों के द्वारा (७० से १०४ पद्य तक) कवि ने अपना चरित्र संक्षेप में लिखा है।

काश्मीर के नगरों में प्रवरपुर (श्रीनगर) नाम का प्रधान नगर है। उससे करीव-करीब २॥ कोस की दूरी पर 'जयवन' नाम का एक स्थान है।

'तस्मादस्ति प्रवरपुरतः सार्धगव्यूतिमात्रीं
भूमिं त्यक्त्वा जयवनमितिस्थानमुत्तुङ्गचैत्यम्

उसी के निकट 'खोनमुष' ग्राम है। जिसको आजकल 'खुनमोह' कहते हैं। उस ग्राम के एक भाग में केसर और दूसरे में अंगूर अधिकता से उत्पन्न होते हैं। वहां पर वहुत सी अद्भुत बातें हैं।

ब्रूमस्तस्य प्रथमवसतेरद्भुतानां कथानाम्।
किं श्रीकण्ठश्वशुरशिखरिक्रोडलीलाललाम्नः।
एकोभागः प्रकृतिसुभगं कुङ्कुमं यस्य सूते।
द्राक्षामन्यः सरससरयूपुण्ड्रकच्छेदपाण्डुम्॥

वहां पर कतिपय कौशिक गोत्र के ब्राह्मण निवास करते हैं। काश्मीर को पवित्र करने के लिये ही मानो महाराज गोपादित्य ने उन्हें मध्यदेश से लाकर वहां वसाया है। उन ब्राह्मणों में 'मुक्तिकलश' नामक अपने सद्गुणों से त्रिलोकी को पवित्र करेवाला एक ब्राह्मण था। 'अग्निहोत्र' के समय उसके शरीर से निकली स्वेदधाराओंने—कलियुग के कलुषरूपी धब्बों को मानो धो डाला था।

चारों वेदों ने तो आकर उसके मुख को अपना घर बनाया था। उस ब्राह्मण श्रेष्ठ से 'राजकलश' हुआ। वह दयालु था, साहित्यशास्त्र की जन्मभूमि, और शब्द शास्त्र का आचार्य था—जो जिज्ञासुओं के हितार्थ व्याकरण की गूढ गुत्थियों को सुलझाने के लिये सिद्धान्ततत्वप्रकाशक पातञ्जल महाभाष्य के सुविशद व्याख्यन किया करता था। उसकी स्त्री का नाम 'नागादेवी' था।

उस महात्मा से 'विल्हण' नाम का पुत्र हुआ। यह कुशाग्र बुद्धि था। जब से उसने मूंजकी मेखला धारण की तभी से वेद की ऋचाओं के चित्र विचित्र

उच्चारण के बहाने भगवती सरस्वती का कङ्कण उसके मुख में बजने लगा। साङ्गवेद, सांगव्याकरण, तथा अन्य दर्शन और सम्पूर्ण साहित्यशास्त्र उसके सर्वस्व हुए। उसकी विद्वत्ता की थाह पाना असम्भव हुआ। सच तो यह है कि ऐसा कोई विषय न था जो उसके बुद्धिरूपी निर्मल दर्पण में प्रतिबिम्बित न हुआ हो।

'साङ्गो वेदः फणिपतिदृशा शब्दशास्त्रे विचारः
प्राणा यस्य श्रवणसुभगा सा च साहित्य-विद्या।
को वा शक्तः परिगणयितुं श्रूयतां तत्त्वमेतत्
प्रज्ञादर्शे किमिव विमलेनास्य संक्रान्तमासीत्॥

उसकी सरस और मधुर कविता, कीर्ति के साथ देश-देशान्तरों में व्याप्त हो गई। उसने कितने ही महाकाव्यों का प्रणयन किया ऐसा ज्ञात होता है।

'चक्रं' यस्याक्रियत वदनप्रेक्षि विद्यावधूनां
श्रीवाग्देव्याश्चरणरजसा कार्मणत्वं गतेन।
याताः सार्धं दिशि दिशि पुनर्बन्धुराः सर्गबन्धाः
कीर्तेः पारिप्लवविदलने सौविदल्लाबभूवुः॥

काल प्रभाव से इस समय विल्हण की केवल 'कर्णसुन्दरी नाटिका' 'चौर-सुरतपंचाशिका', स्फुटसुभाषितपद्य (सुभाषित ग्रन्थों में विल्हणनामाङ्कित) जल्हण की 'सूक्तिमुक्तावलि' में १०८ पद्य तथा 'विक्रमाङ्कचरित' ये कृतियां उपलब्ध हैं।

विल्हण के ज्येष्ठ सहोदर का नाम 'इष्टराम' था। अनेक राजसभाओं का वह आभूषण था। वह भी प्रकाण्ड विद्वान और महाकवि था।

विद्वत्तायाः स खलु शिखरं प्रापयस्येष्टरामो
ज्येष्ठो भ्राता क्षितिपतिशतास्थानलीलावतंसः।

---

१. इन्द्रजाल के सदृश (जादू का) प्रभाव डालने वाली भगवती शारदा देवी की चरणरजों ने विद्यारूपी वधुओं के समुदाय को कवि का मुखप्रेक्षि बनाया (वशवर्ती कर दिया) ऐसे कवि की कीर्ति को प्रत्येक दिशा में अपने साथ पहुँचाने वाले सुन्दर-सुन्दर अनेक सर्गबन्ध (महाकाव्य) कवि की कीर्ति को स्थिर करने में कञ्चुकी का काम करने लगे।

वक्त्रे काव्यामृतरसभरास्वादसक्तैर्यदीये
दृष्टा देवी सुकविजननी सा प्रपापालिकेव ॥

उसके छोटे भाई का नाम 'आनन्द' था। उसके साथ विवाद करने वाले कवियों की कीर्ति, उसकी उक्तिरूपी कुल्हाडी से कट जाने पर फिर कभी न जुड सकी।

काश्मीर में समस्त वेदशास्त्रों का अध्ययन कर अपनी कीर्ति को विल्हण ने चारों ओर फैला दिया। उसके पश्चात् उसने देशान्तर के लिये प्रस्थान (१०६२–१०६५ ई०) किया। यमुना पथ से वह 'मथुरा' पहुँचा वहां विद्वानों को पराजित कर कुछ दिन वृन्दावन में उसने निवास किया। उसके काव्य अपनी कोमलकान्त-पदावलि तथा विशदभावप्रकाशन के कारण ऐसे लोकप्रिय हुए कि मूर्ख से विद्वान तक, रङ्क से रावतक, बालक से वृद्ध तक; स्त्री और पुरुष सबने उनको अपनाया। ग्रामों में, नगरों में, राजधानियों में, बस्तियों में, वन में लोग उसकी कविता को प्रेम से पढ़ते और आनन्द से उन्मत्त हो उठते।

ग्रामो नासौ न स जनपदः सास्ति नो राजधानी
तन्नारण्यं न तदुपवनं सा न सारस्वती भूः।
विद्वान् मूर्खः परिणतवया बालकः स्त्री पुमान् वा
यत्रोन्मीलत्पुलकमखिला नास्य काव्यं पठन्ति ॥

कवि वृन्दावन से कान्यकुब्ज, और वहां से प्रयाग को गया। उक्त दोनों स्थानों में उसने कुछ काल तक निवास किया। जो धन उसने अपने अलौकिक गुणों से अर्जित किया था, उसे उसने मुक्तहस्त से तीर्थराज प्रयाग में दान कर दिया।

तस्मिन् वारान् कति न कृतिना तीर्थनाथे प्रयागे
दत्ताविश्वाद्भुतगुणगणोपार्जिता येन लक्ष्मीः।

वहां से 'काशी' पहुँचा, और गङ्गा में दुश्शील राजाओं के मुखावलोकन से उत्पन्न हुए पापों को धो डाला।

कालिंजर के राजा पर विजय प्राप्त करने वाले 'डाहलदेशाधीश्वर कर्ण' से जब उसकी भेंट हुई तब डाहल नरेश ने उसके कविता-पीयूष का आकण्ठ पान किया, डाहलनरेश के यहां प्रसिद्ध कवि गंगाधर को उसने परास्त किया। विद्या-केन्द्र काशी में ही यह शास्त्रार्थ हुआ था। काशी पर उस समय डाहलाधीश का

प्रभुत्व था। कवि ने अनेक स्थानों में विवाद किये। विद्वानों को परास्त किया परन्तु कहीं पर भी विजित पण्डित का नामोल्लेख नहीं किया। यहां पर नामोल्लेख का यही प्रयोजन है कि इस विजय को विल्हण अपनी अलौकिक विजय मानता है।

'नीत्वा गङ्गाधरमधरतां डाहलाधीशधाम्नि
क्रीडाक्रान्तप्रतिभटकवेः पूर्वदिक्कोटरेषु।'

तदनन्तर अपनी वाग्धारा से अयोध्या को शीतल करके वह गुर्जर देश की ओर गया। भोज की राजधानी 'धारा' को जब वह पहुँचा उसके पूर्व ही (१०५५ ई०) भोज स्वर्गगत हो चुका था। अतः कवि के मनोरथ सफल न हुए।

भोजः क्ष्माभृत् स खलु नखलैस्तस्य साम्यं नरेन्द्रै-
स्तत् प्रत्यक्षं किमिति भवता नागतं हा हतास्मि।
यस्य द्वारोड्डुमरशिखरक्रोडपारावतानां
नादव्याजादिति सकरुणं व्याजहारेव धारा॥

मार्ग में कच्छहीन, अपवित्र और जुगुप्सा व्यञ्जक शब्दों का उच्चारण करनेवाले गुजरातियों को देखने से, जो सन्ताप हुआ था, उसका परिहार कवि ने 'सोमनाथ' के दर्शन से किया।

शतशः राजाओं से मिलने की इच्छा से उसने दक्षिण की यात्रा की। वह रामेश्वर तक गया। वहां से पीछे लौटा। छोटे-छोटे राजाओं की ओर उसने दृक्पात भी न किया। केवल बड़े-बड़े नरेशों की सभा को उसने अपने गमन से अलंकृत किया। क्योंकि वह बड़ा स्वाभिमानी था।

बिन्दुद्वन्द्वतरङ्गिताग्रसरणिः कर्ता, शिरोबिन्दुकं
कर्मेति प्रतिबोधितान्वयविदो ये येऽपि तेभ्यो नमः।
ये तु ग्रन्थसहस्रशाणकषणत्र्युटच्यत्कलंकैर्गिरा
मुल्लेखैः कवयन्ति विल्हणकविस्तेष्वेव संनह्यति॥

दक्षिण प्रदेश में पर्यटन करते करते चालुक्यवंशीय महाराज विक्रमांकदेव (षष्ठ) की सभा में (१०७६–११२७ ई०) पहुँचा। राजसभाओं में नवीन विद्वान को प्रवेश मिलना बहुत ही कठिन हुआ करता था तथापि इसने अपनी दिग्विश्रुत कीर्ति से प्रवेश पाया और वहां उसका सब से अधिक सम्मान हुआ।

उसके उस सम्मान को देखकर यह नवीन दूर का होते हुए भी, राज-कृपा का विशेष पात्र होता जा रहा है, इस बात को न सह सकनेवाले राजपण्डितों ने उससे छल कपट करना शुरू किया। अनेक प्रकार से उसे दुःख पहुंचाने लगे, यहां तक स्थिति पैदा कर दी कि उसे राजा के कोप का पात्र बना दिया। दोनों का दौर्मनस्य हुआ। यह अधोलिखित पद्यों से ज्ञात होता है—

सर्वस्वं गृहवर्तिकुन्तलपतिर्गृह्णातु तन्मे पुन-
र्भाण्डागारमखण्डमेव हृदये जागर्ति सारस्वतम्।
रे क्षुद्रास्त्यजत प्रमोदमचिरादेष्यन्ति मन्मन्दिरं
हेलान्दोलितकर्णतालकरटि-स्कन्धाधिरूढाः श्रियः॥

भले ही राजा मेरे गृह के सारे धनको छीन ले तथापि मेरे कोई कमी नहीं है क्योंकि मेरे हृदय में अतुलैश्वर्यशालिनी भगवती सरस्वती का अखण्ड भाण्डागार (कोष) विद्यमान है। हे क्षुद्र पण्डितों! आप अपनी इस प्रसन्नता को त्याग दो थोड़े ही समय में मेरे घर पर हाथियों पर विराजमान राजश्रियां (राजलक्ष्मी) पुनः पधारेंगीं।

अयि किमनिशं राजद्वारे समुद्धर कन्धरे
कुवलयदलस्निग्धे मुग्धे विमुञ्चसि लोचने।
अमररमणी लीलावल्गद्विलोचनवागुरा
विषयपतितो नव्यावृत्तिं करिष्यति विल्हणः॥

ऐसा ज्ञात होता है कि कवि इस पद्य में अपनी प्रेयसी से कहता है या राजलक्ष्मी से—अयिमुग्धे! तुम ग्रीवा उठा कर राजद्वार की ओर कुवलय दल की तरह स्निग्ध अपने लोचनों को क्यों निरन्तर लगा रही हो? राजद्वार को क्यों तक रही हो?

देवाङ्गनाओं की लीलाओं से सुशोभित नेत्रों के पाश में बँधा हुआ यह विल्हण (इन अगुणज्ञ अरसिक मानी पुरुषों को मनाने के लिये स्वयं होकर) वापस न होगा।

परन्तु विक्रमाङ्क स्वयं विद्याप्रेमी था—वह कवि विल्हण की योग्यता से अच्छी तरह परिचित था। उसे अपनी सभा से कवि का निकल जाना खलने

लगा । तब उसने कवि को मनाया, बहुत सम्पत्ति भेंट की और उसको 'विद्यापति' के पद से गौरवान्वित किया ।

नीलच्छत्रोन्मदगजघटापात्रमुत्रस्तचोला-
च्चालुक्येन्द्रादलभत कृती योत्र विद्यापतित्वम् ।
अस्मिन्नासीत्तदनुनिबिडाश्लेषहेवाकलीला
वेल्लद्बाहुक्कणितवलया संततं राजलक्ष्मीः ॥

चोलाधिपति भी जिससे भय खाता रहा ऐसे चालुक्य विक्रमादित्य (षष्ठ) से जिसने नीलवर्ण छत्र, अनेक गज तथा विद्याधिकारित्व ('विद्यापति' पद) को पाया उसके पश्चात् गाढालिंगन की उत्सुकता से प्रस्फुरित बाहुओं में कंकण जिसके क्वणन (नाद) कर रहे हैं ऐसी राजलक्ष्मी कवि विल्हण के पास सतत निवास करने लगी ।

उक्त पद्य में 'तदनु' 'सन्ततम्' इन पदों से स्पष्ट होता है कि 'विद्यापति' की पदवी से सम्मानित करने के पश्चात् पुनः कभी दौर्मनस्य नहीं हुआ ।

कवि कल्हण ने राजतरङ्गिणी में कहा है—

काश्मीरेभ्यो विनिर्यातं, कालेकलशभूपतेः ।
विद्यापतिं यं कर्णाटश्चक्रे परमाडिभूपतिः ॥ १ ॥
प्रसर्पतः करिटिभिः कर्नाट—कटकान्तरे ।
राज्ञोग्रेददृशे तुङ्गं यस्यैवातपवारणम् ॥ २ ॥
त्यागिनं हर्षदेवं स श्रुत्वासुकविबान्धवम् ।
विल्हणो वंचनं मेने विभूतिं तावतीमपि ॥ ३ ॥

हर्षराज्य का काल (१०८९–११०१) में 'विद्यापति' पदासीन महाकवि विल्हण थे, यह प्रमाणित किया जाता है । तब से वह अनेक प्रकार के ऐश्वर्यों का उपभोग करते हुए वहीं रहने लगे । उन्होंने वृद्धावस्था में कर्नाट देशाधिपति विक्रमाङ्कदेव के लिये अपने प्रेम के उपहार रूप में यह काव्य (१०८५ ई०) बनाया । ईश्वर करे वह (काव्य) बुद्धिमानों के कण्ठ का आभूषण हो ।

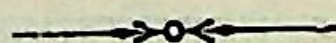
'तेनप्रीत्या विरचितमिदं काव्यमव्याजकान्तं
कर्नाटेन्दोर्जगति विदुषांकण्ठभूषात्वमेतु ।

(अभी तक कवि ने अपने विषय में जो कहा सब प्रथम पुरुष में कहा । अब

अपने आत्मचरित्र की पूर्ति (समाप्ति) उत्तम पुरुष में करता है।) सब कहीं मैंने अनन्त सम्पत्ति सम्पादन की, सब कहीं मुझे पुण्यात्माओं के मिलने योग्य वर और आशीर्वाद मिले, विपक्षियों के साथ विवाद करने में सब कहीं मेरी जय हुई। अब मेरी यह इच्छा है कि शीघ्र ही मैं अपने देश के काश्मीरक विद्वानों से वार्तालाप करूँ। मैं राजाओं की कृपा का पात्र हुआ। मेरा वैभव भी बहुत बढ़ा। शास्त्रावलोकन भी मैंने किया। अब मेरी इच्छा भगवती जाह्नवी के दर्शन करने की है।

हे भूपालों! लक्ष्मी बिजली के समान चञ्चल है, वह किसी प्रकार स्थिर नहीं की जा सकती। मृत्यु की सूचक दुन्दुभी सर्वदा सबके सिर पर बजा करती है, इसलिये सच्चे कवियों का सत्कार करो। वे ही तुम्हारे कीर्तिशरीर की रक्षा करेंगे। उनसे विरोध करना छोड़ो, उन्हीं की कृपा से तुम्हारा यश सब ओर फैलता है। देखो प्रसन्न होकर कवियों ने राम के चरित को अजरामर कर दिया और दश शिरवाले रावण की कीर्ति को धूल में मिला दिया।

हे राजानस्त्यजत सुकविप्रेमबन्धे विरोधं
शुद्धाकीर्तिः स्फुरति भवतांनूनमेतत्प्रसादात्।
तुष्टैर्बद्धं तदलघु रघुस्वामिनः सच्चरित्रं
क्रुष्टैर्नीतस्त्रिभुवनजयी हास्यमार्गं दशास्यः॥



विल्हण की आख्यायिका

'विल्हण काव्य', एक छोटा सा काव्य उपलब्ध है। उस पर 'काश्मीरक विल्हण कविविरचितम्' यह लिखा होने से यह भी इसी का है, ऐसी लोकप्रसिद्धि है। इस काव्य में केवल विल्हण और शशिकला की आख्यायिका है। यह भी बड़ी अद्भुत होने से पाठकों के मनोरञ्जनार्थ यहाँ दी जाती है—

गुजरात में महिलापत्तन नामक एक स्थान है। वहां वीरसिंह नामका एक राजा था। उसने अवन्ती के राजा 'अतुल' की कन्या 'सुतारा' से विवाह किया। सुतारा के गर्भ से शशिकला नाम की एक कन्या पैदा हुई। उसको पढ़ाने का विचार राजा कर ही रहा था कि—दैवयोग से काश्मीरक पण्डित विल्हण वहां पहुँचे। विल्हण की प्रशंसा राजपुरोहित राजहंस ने राजा वीरसिंह से की। वीरसिंह विल्हण से मिलकर बहुत प्रसन्न हुआ। उसने चन्द्रकला को बुलाकर उसके अध्यापन का कार्य विल्हण को सौंपा। विल्हण उसे पढ़ाने लगे। राजकन्या बड़ी कुशाग्रबुद्धिमती थी। वह थोड़े ही दिनों में पण्डिता हो गई—'स्तोकैर्दिनैः शशिकला विदुषी बभूव"।

पण्डिता हो चुकने पर उसे कविविल्हण कामशास्त्र पढ़ाने लगे। शशिकला, विल्हण की "पूर्वजन्म में पत्नी" थी। 'मनोहि जन्मान्तरसंगतिज्ञम्'। (कामशास्त्र पढ़ते-पढ़ते वह विल्हण में अनुरक्त हो गई और दोनों ने छिपे-छिपे गान्धर्व विवाह कर लिया)।

बीच में जवनिका (पर्दा) डालकर अध्ययन अध्यापन होता था। एक दिन विल्हण ने शशिकला को सुना कर यह श्लोक पढ़ा।

जातं सुजन्म विफलं भुवने नलिन्या
दृष्टं यया न विमलं तुहिनांशुबिम्वम्।
यावच्छ्रुतं सुवचनं सुकवेस्तयेत्थं
किञ्चिद् विहस्य तुहिनांशुकला बभाषे॥

जिस कमलिनी ने चन्द्रबिम्ब का दर्शन न किया उसका जन्म ही वृथा है। इस उक्ति को सुनकर चन्द्रकला ने कहा—

संपूर्णतापि शशिनश्च हि निष्फलैव
दृष्टा यया न नलिनी परिपूर्णरूपा।

जिस चन्द्रमा ने कमलिनी का दर्शन न किया उसकी सम्पूर्णता भी तो निष्फल है। तात्पर्य यह कि दोनों ने परस्पर एक दूसरे को देखना चाहा। जवनिका हटी। उनका पारस्परिक मनोरथ सफल हुआ।

तदनन्तर विल्हण और शशिकला बराबर मिलते रहे। शनैः शनैः यह बात शशिकला की परिचारिकाओं को ज्ञात हुई। उन्होंने राजपुरोहित से कहा। राजपुरोहित ने किसी के द्वारा सन्देश भेजकर विल्हण को इस गर्हित व्यवहार से विरत होने का परामर्श दिया। पर विल्हण ने उसकी एक न सुनी। तब पुरोहित ने वीरसिंह को खबर दी। अन्त में मन्त्रियों की सम्मति से विल्हण को शूली पर चढ़ाने का आदेश हुआ। विल्हण शशिकला के भवन में पकड़े गये। उन्हें वधिकों ने बांधा और बध्य स्थान पर उन्हें ले चले। वहां उनसे कहा गया कि स्नान करके अपनी इष्ट देवता का ध्यान कीजिये। विल्हण ने कहा हमारी इष्ट देवता राजकन्या ही है। अतएव उसी का हम चिन्तन करते हैं। यह कहकर आपने अपनी प्रसिद्ध पञ्चाशिका की रचना आरम्भ की और पचास पद्य बराबर पढ़ते गये। ये पद्य भी उक्त पुस्तक में हैं। अन्त में विल्हण ने कहा कि हमने जो कुछ पुण्य किया हो उसका फल हम यही चाहते हैं कि प्रत्येक जन्म में शशिकला ही हमारी पत्नी हो। यह कहकर आप वध किये जाने के लिये तैयार हो गये। जो राजसेवक विल्हण के साथ वधस्थल पर गये थे, वे विल्हण की कविता, दृढ़ता, और शशिकला विषयक अकृत्रिम प्रेम देखकर चकित हो उठे। उन्होंने राजाज्ञा पर बहुत दुःख प्रकट किया और कहा कि हम ब्रह्महत्या की गुरुता को जानते हैं; पर राजा की आज्ञा को टाल नहीं सकते, क्या करें। कुछ स्त्रियों ने भी यह सब दृश्य देखा।

उधर चन्द्रकला के घर से जब विल्हण निकाले गये, और उनके विषय में पिता की कठोर आज्ञा चन्द्रकला ने सुनी, तब उसने भी मर जाने का निश्चय किया। वह अपने राजप्रासाद की छत पर चढ़ गई और नीचे गिर कर प्राण देने की तैयारी करने लगी। इसी समय कुछ स्त्रियां उसके महल में गईं और चन्द्रकला को मरने के लिये उद्यत देख घबरा उठीं। वे दौड़ी हुई चन्द्रकला की मां के समीप पहुंचीं और सब वृत्त सुनाया। उधर वधस्थल का दृश्य जिन स्त्रियों ने देखा था, वे भी चन्द्रकला की माँ के पास आईं और विल्हण की अनुरक्ति का वर्णन करने लगीं। इन बातों को सुनकर चन्द्रकला की माँ सुतारा

फूट-फूट कर रोने लगी। दौड़ती हुई वह वीरसिंह के पास गई और कहा कि तुम्हारी आज्ञा ब्रह्महत्या और कन्या की आत्महत्या दोनों का कारण बनेगी। वीरसिंह ने अपने पुरोहित और मंत्रियों से विचार-विमर्श किया। उन्होंने कहा, ब्रह्महत्या और स्त्रीहत्या दोनों घोर पातक हैं। उनसे सदैव मनुष्य को बचना चाहिये। इस पर वीरसिंह ने विल्हण को क्षमा कर दिया और विधिपूर्वक उसके साथ शशिकला का विवाह कर दिया और बहुत सा धन भी साथ में दिया।

विल्हण की काव्यकृति तथा आख्यायिका से यह स्पष्ट होता है कि वे महाविद्वान् भी थे और महारसिक भी थे।

सुना जाता है कि विल्हण जिस समय देशाटन कर रहे थे उस समय किसी राजा के दरबार में उन्हें प्रवेश पाने में कठिनाई हुई; द्वार पर वे रोक दिये गये। जब उन्होंने समझ लिया कि हम किसी प्रकार भीतर नहीं जा पाते तब द्वार पर एक श्लोक लिखकर उन्होंने उसे राजा के पास भेजा। इस श्लोक का अन्तिम चरण यह है—'विल्हणो वृषणायते'

विल्लह के ग्रन्थों में से केवल दो ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं—पञ्चाशिका और दूसरा विक्रमांकदेवचरित। पंचाशिका में ५० श्लोक हैं और प्रति श्लोक का आरम्भ 'अद्यापि' से है। 'अद्यापि' से भी विल्हण के विपत्तिग्रस्त होने की सूचना मिलती है। मरने के समय किसी को शृङ्गारिक भाव नहीं सूझते, परन्तु प्रेमातिशय के कारण विल्हण को उस समय भी अपनी वचनवद्धता का स्मरण आया। किसी-किसी श्लोक में तो उन्होंने "अन्ते स्मरामि" अर्थात् अन्त समय में मैं उसे स्मरण करता हूँ। पंचाशिका का अन्तिम श्लोक अत्यन्त सुन्दर भावपूर्ण है—

यद्यापि नोज्झतिहरः किल कालकूटं कूर्मो बिभर्ति धरणीं खलु पृष्ठभागे।
अंभोनिधिर्वहति दुःसहवाडवाग्नि मङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति ॥

कालकूट विष को पीकर अब तक उसे शंकर ने अपने कण्ठ में स्थान दे रखा है, फेंका नहीं। कूर्म ने अपनी पीठ पर पृथ्वी को एक बार जो रक्खा तो अब तक रक्खे हुए ही हैं; सागर भी अत्यन्त दुःसह वाडवानल को पूर्ववत् धारण किये है; सच है—सत्पुरुष जिसे एक बार अपना लेते हैं उसको फिर कभी नहीं छोड़ते, उसका सर्वदा परिपालन ही करते हैं। यह सुन्दर पद्य कवि की अद्भुत प्रतिभा का नमूना है। मरणोन्मुख मनुष्य के मुख से ऐसी सरस सालंकार कविता का निकलना कवि की रसमयता का ज्वलन्त प्रमाण है।



काव्य की विशेषताएँ

बिल्हण के काव्य की शैली अत्यन्त-सरस, प्रसाद-गुण-युक्त तथा मनोहारिणी है। काव्य-रस स्वतः संवेद्य होता है, उसको वाणी से बताना कठिन है। कवि ने वैदर्भी-रीति में अपने काव्य को ग्रथन करने की प्रतिज्ञा पूर्णतया निभाई है। वैदर्भी-रीति का लक्षण 'माधुर्य व्यञ्जकैर्वर्णैरचना ललितात्मिका। अवृत्तिरल्प-वृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥' उसमें पूर्णतया घटता है 'वैदर्भीरीति' की कवि स्वयं प्रशंसा करता है—

'अनभ्रवृष्टिः श्रवणामृतस्य सरस्वतीविभ्रमजन्मभूमिः।
वैदर्भरीतिः कृतिनामुदेति सौभाग्यलाभप्रतिभूः पदानाम् ॥

वैदर्भी रीति में किये काव्य सरल तथा सरस और ध्वनिगर्भित होते हैं। अपने काव्य-नायक के चरित्र को यथासाध्य सुन्दर बनाने के लिये कवि सर्वथा प्रयत्नशील है। ऐतिहासिक विषयों को आलंकारिक रीति से कवि ने ऐसी चतुरता से संनिविष्ट किया है जिससे वे असाधारण कोटि में आ जाते हैं।

इस काव्य में यह और विशेष है कि वह आपाततः आनन्दमय और चमत्कारपूर्ण प्रतीत होता ही है, और तत्वावगति होने पर तो वही आनन्द और चमत्कार निःसीम और स्थायी हो जाता है। 'कामदुघा हि महाकवीनां वाचो भवन्ति।' इस उक्ति को विल्हण ने वास्तव में चरितार्थ कर दिखाया है। अनुप्रासों का अद्भुत संनिवेश चतुराई से किया है। उपमा, उत्प्रेक्षादि अलंकारों का चमत्कार तो स्वाभाविक होता ही है, परन्तु यहां श्लेषादि दुरूह अलंकार भी ऐसी चतुराई से ग्रथित किये गये हैं जो चित्त को विस्मित कर देते हैं।

कवि दो प्रकार के होते हैं—एक कारक और दुसरा भावुक। इन दोनों में कौन महान् है इसका निर्णय करना कठिन है।

'इण्डियन एण्टिक्वेरी' पत्र के संपादक विल्हण की रीति के विषय में कहते हैं—'विल्हण श्लेषालंकार के परम उपासक हैं। वह श्लेष भी अनुप्रासयुक्त होते हैं। इस विषय में तो अन्य आलंकारिक महाकवि उसको कदाचित् ही पा सकते हों'।

'मध्यकालीन अनेक कवियों के समान विल्हण भी दीर्घ-दीर्घतर समासों को अपने काव्य में रचते हैं। चमत्कार से भरी प्रहेलिकाओं के रचने में इस कवि को बड़ा आनन्द आता है। ऐसी प्रहेलिकाएँ काव्यामृत के पिपासुओं को बड़ी मनभावनी होती है'।

किसी ने विल्हण की शैली के सम्बन्ध में यह कहा है कि 'प्रतिपादित रीति के सर्वथा विपरीत विल्हण की रीति है।' इस प्रकार की आलोचना देखकर सहृदयों के हृदयों में खेद और उपहास का संगम हो जाता है। परन्तु श्री ए० बी० कीथ महोदय ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में विल्हण की रचना-शैली की बड़ी प्रशंसा की है। 'श्लेष स्वभावतः क्लेशकारक होते हैं तथापि विल्हण के श्लेष नितान्त सरल हैं। इस काव्य में प्रहेलिकाओं का एक प्रकार से अत्यन्ताभाव ही कहना चाहिये। समास भी बहुत स्वल्प हैं और वैदर्भी रीति से युक्त हैं।'

ऐसे अनर्गल आलोचकों के बारे में कवि स्वयं कहता है—

'रसध्वने रध्वनि ये चरन्ति संक्रान्तवक्रोक्तिरहस्यमुद्राः।
तेऽस्मत्प्रबन्धानवधारयन्तु कुर्वन्तु शेषाः शुकवाक्यपाठम् ॥'

तात्पर्य यह है—कवि ने इस काव्य में प्रसादपूर्ण वैदर्भी रीति को अपनाया है। जैसा कि वे स्वयं कहते हैं—

'सहस्रशः सन्तु विशारदानां वैदर्भलीला निधयः प्रबन्धाः।
तथापि वैचित्र्यरहस्यलुब्धाः श्रद्धां विधास्यन्ति सचेतसोऽत्र ॥'

कविता पर माधुर्य तथा प्रसाद गुण का पर्याप्त पुट है। वीररस तो प्रधान है ही परन्तु शृंगार तथा करुण का पुट भी कम मनोहर नहीं है। इसमें चतुर्थ सर्ग अत्यन्त प्रशंसनीय है। करुण रस को बड़ी सुचारुता से भर दिया है। रसानुकूल ही शब्दयोजना है। इस काव्य में इन्द्रवज्रा, वंशस्थ, अनुष्टुप् रथोद्धता, मदाक्रान्ता, पुष्पिताग्रा, और स्वागता ये छन्द प्रधानतया प्रयुक्त किये गये हैं। विल्हण के काव्य में कुछ विलक्षण प्रौढि रहने से सहृदयों का हृदय इनकी कविता पर रीझता है। अनुरूप दृष्टान्त, सरस पद विन्यास, विशद भाव प्रकाशन, विल्हण के काव्य की विशेताएं हैं। अनुरूप दृष्टान्त के दो उदाहरण—

'कुण्ठत्वमायाति गुणः कवीनां साहित्यविद्याश्रमवर्जितेषु ।
कुर्यादनार्द्रेषु किमङ्गनानां केशेषु कृष्णागुरुधूपवासः ॥'

साहित्य विद्या के अनुशीलन से जिनका हृदय सरस नहीं हुआ, उन पर कवियों के प्रशस्त गुणों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता । सुन्दरियों के न भीगे हुए (सूखे) केशकलाप, अगुरु के सुगन्धित धूप से क्या सुवासित हो सकते हैं ?

'कर्णामृतं सूक्तिरसं विमुच्य दोषे प्रयत्नः सुमहान् खलानाम् ।
निरीक्षते केलिवनं प्रविश्य क्रमेलकः कण्टकजालमेव ॥'

कुतार्किक खलजन, कानों में अमृत घोलने वाली सूक्तियों की रसमाधुरी को छोड़ केवल ऐसे दोषों को जिनको दोषाभास कह सकते हैं, खोज निकालने के प्रयत्न में ही लगे रहते हैं । सच है, क्रीडोद्यान में प्रवेश करके भी ऊँट बबूल के काँटों को ही खोजता है । कोमल किसलय तथा पुष्पों, फलों पर उसकी दृष्टि कदापि नहीं जाती ।

सोमेश्वर ने विल्हण की इस प्रकार प्रशंसा की है—

विल्हणस्य कवेः प्राप्तप्रसादैव सरस्वती ।
नीयते जातु कालुष्यं दुर्जनैर्व घनैरपि ॥



प्रथम सर्ग का संक्षिप्त कथानक

एक समय ब्रह्मदेव जब प्रातःकालीन संध्यासमाधि में संलग्न थे उस समय देवराज इन्द्र उनके पास गये, और जाकर उनसे यह प्रार्थना की कि पृथ्वी पर अधर्म की वृद्धि हो रही है, अतएव आप ऐसा पुरुष उत्पन्न कीजिये, जिससे भयभीत होकर दुराचारी अपने अपने दुराचारों को त्याग दें।

यह सुनकर ब्रह्मदेव ने जल से भरी हुई अपनी अञ्जलि (चुलुक) की ओर देखा, देखते ही त्रिलोक की रक्षा करने योग्य उससे एक वीर पुरुष उत्पन्न हुआ। उसी पुरुष से चालुक्यों का वंश प्रारम्भ हुआ।

चालुक्यों का प्रथम पुरुष 'हारीत' हुआ। इस वंश के राजा लोग प्रथम अयोध्या में उसे अपनी राजधानी बनाकर रहते थे। शिलालेखों से ज्ञात होता है कि अयोध्या और दूसरे नगरों में इस वंश के ५९ राजाओं ने राज्य किया। उनमें से कई राजा जिनकी विजय लालसा बड़ी प्रबल थी, विजय करते हुए दूर तक दक्षिण में चले गये।

इसी वंश में श्री तैलप[1] नामका एक महाप्रतापी राजा हुआ। वह महान् वीर था। उसने पृथ्वी के कण्टकरूप राष्ट्रकूट के राजवर्ग को जड़ से उखाड़ डाला।

तैलप के अनन्तर सत्याश्रय[2] को चालुक्यवंश की राजगद्दी मिली। वह परशुराम के समान धनुर्विद्या में कुशल था।

उसके अनन्तर जयसिंहदेव[3] वहां का राजा हुआ। उसने बहुत दिनतक

---

१. तैलप ने ९७३ से ९९७ तक राज्य किया। एशियाटिक सोसाइटी के जनरल में लिखा है कि इस राजा ने मालवा पर चढ़ाई की थी। यह बात भोज-चरित तथा शिलालेखों में भी लिखी है।

२. सत्याश्रय का राज्य काल ९९७ से १००८ ई० तक है।

३. इस राजा ने १०१५ से १०४५ ई० तक राज्य किया। इन्द्र के हाथ से माला पहनाये जाने से कवि का यह अभिप्राय है कि जयसिंह ने युद्ध में प्राण छोड़े। १००८ और १०१८ के बीच जयसिंह के बड़े भाई ने राज्य किया, परन्तु उसका नाम बिल्हण ने छोड़ दिया।

राज्य किया। उसके कण्ठ में इन्द्र ने अपने हाथ से पारिजात की माला पहनाई।

१०४५ से १०६८ ई० तक चालुक्यों की राज्यलक्ष्मी जयसिंह के पुत्र आहवमल्ल की वशीभूत रही। इसका दूसरा नाम त्रैलोक्य मल्ल भी लिखा है। उसने चोलों को जीता और मालवा की राजधानी धारा पर भी चढ़ाई की। धारा में उस समय, राजा भोज राज्य करता था। भोज को धारा से भागना पड़ा।

डाहल के राजा कर्ण का भी अधिकार आहवमल्ल ने छीन लिया।

कांची के राजा को परास्त करके उसे उसने निकाल दिया। (और अपनी राजधानी कल्याण को नये-नये प्रासादों और मन्दिरों से शोभित किया)

इस प्रकार प्रथम सर्ग में कवि ने मंगलाचरण, कवि और काव्य की प्रशंसा दुष्टों की निन्दा, काव्य चोरों का उपहास, आहवमल्ल और उसके पूर्वजों का वर्णन मात्र किया है।



विक्रमांकदेव-चरित :—

गुप्त साम्राज्य के विलीन होने पर चालुक्य साम्राज्य जैसा प्रतापशाली साम्राज्य दूसरा नहीं था (१) वातापि चालुक्य (२) वेंगिचालुक्य (३) कल्याणचालुक्य, (४) गुर्जर चालुक्य—इस प्रकार चालुक्यों की चार शाखायें थीं।

'विक्रमांकदेवचरित' महाकाव्य का नायक विक्रमांकदेव (विक्रमादित्यषष्ठ) कर्नाटक प्रान्त के प्राचीन कल्याण नगर की चालुक्य शाखा में पैदा हुए थे।

उस समम चालुक्य वंश के राजा विद्याप्रेम, दानशीलता, उदारता आदि गुणों में औरों से बढ़े-चढ़े हुए थे। यही कारण है कि तत्कालीन राज्य शासन से सम्बन्धित अनेक ताम्र शासन, शिलालेख तथा प्रशस्तियां, आज भी पायी जाती हैं। यहां कवियों का तथा विद्वानों का बड़ा आदर हुआ करता था। इसीलिये कवि बिल्हण काश्मीर जैसे सुदूर देश से आकर उसके दरबार में आदर पा रहे थे। इसी चालुक्य शाखा में तैलप नाम का महाप्रतापी राजा हुआ। (९७३–९९७ ई०) जिसने राष्ट्रकूटों को जीत कर चालुक्य-राज्यलक्ष्मी को बढ़ाया। तैलप के पश्चात् सत्याश्रय ने राज्य-शासन किया (९९७–१००८ ई०) यह भी बड़ा शूर-वीर तथा प्रतापशाली राजा था। तदनन्तर जयसिंह ने राज्यसाशन सम्हाला (१०१५–४२ ई०)। यह भी लोकोत्तर प्रतापी तथा ऐश्वर्यशाली राजा हुआ। उसके बाद उसके पुत्र त्रैलोक्यमल्ल जो आहवमल्ल नाम से प्रसिद्ध था, उसने राज्यशासनसूत्र को हाथ में लिया (१०४२–१०६८ ई०)। इस प्रतापी राजा ने चोल-राजाओं को अनेक बार जीता। मालवा पर आक्रमण कर भोजराज को उसकी राजधानी धारा से भगाया। डाहलाधीश कर्ण को जीत कर चोल राजधानी कांची को अपने आधीन कर कल्याण नगरी में अपनी राजधानी स्थिर की। आहवमल्ल के तीन पुत्र हुए, उसींमें सोमेश्वर जेष्ठ था और विक्रमांकदेव-मध्यम तथा जयसिंह कनिष्ठ था। पिता के समक्ष ही विक्रमादित्य ने अनेक युद्ध किये और अपनी वीरता से सब को प्रभावित कर दिया। यह देख पिता ने उसको युवराज बनानां चाहा। परन्तु

ज्येष्ठ भाई के होते हुए स्वयं युवराज बनना उसने अनुचित समझा। अनेक प्रकार से पिता के आग्रह करने पर भी जब उसने युवराज बनना स्वीकार नहीं किया तब सोमेश्वर को ही उसने युवराज बनाया, परन्तु कार्य-भार विक्रम ही सम्हालते थे। पिता की अनुमति से विक्रम ने अनेक लड़ाइयां लड़ीं और उनमें जय प्राप्त की। उसने चोल राजाओं को कई बार हराया और उनकी राजधानी कांची को अपने आधीन किया। मालवाधीश अपने गये राज्य को पुनः पाने के लिये उसकी शरण आया और विक्रम ने उसके शत्रुओं को जीतकर उसे निष्कंटक राज्य अर्पण किया। कामरूप तथा गौड़देशों को भी उसने जीता। एक समय विक्रम दिग्विजय के लिये निकला, तब केरल के राजा को यम का अतिथि बनाया। सिंहल का राजा भयभीत होकर उसकी शरण में आया। तदनन्तर चोल देश के गांगकुड नगर को जीत कर और चक्रकोट नगर को जीतकर विक्रम जब वापस आ रहा था तब मार्ग में अनेक प्रकार के दुर्निमित्त दिखाई देने लगे। जिससे उसका हृदय बड़ा व्याकुल हो रहा था। कृष्णा नदी के किनारे पर अपना डेरा डाल अमंगल शान्ति के लिये पुण्य कर्म करने लगा। उसी समय कल्याण नगर से आकर किसी दूत ने उसे अकल्याण-वार्ता सुनाई। 'आपकी विजय सुनकर आपके पिता आहवमल्ल प्रसन्न हुए परन्तु असमय में ही भयंकर ज्वर से ग्रस्त होकर, रोग दूर होने के साधन को न देख दक्षिणा पथ जाह्नवी तुङ्गभद्रा में उन्होंने जलसमाधि ली।' पिता की मृत्यु का समाचार सुनकर विक्रम बड़ा दुःखी हुआ, और अपने जेष्ठ भ्राता की सान्त्वना के लिये कल्याण में पहुँचा। तदनन्तर कुछ दिनों तक वे दोनों भाई बड़े स्नेह से रहे।

विक्रम अनेक गुण संपन्न होता हुआ भी अपने ज्येष्ठ भाई को पितृतुल्य समझता था। दिग्विजय में प्राप्त की हुई धन-राशि उसने सोमेश्वर को ही अर्पण की।

परन्तु कुछ समय के बाद दुर्दैव-वश सोमेश्वर अत्यन्त दुर्विनीत और अन्यायपरायण हुआ। अपने दुर्गुणों से चालुक्य-राजलक्ष्मी को उसने कलंकित कर दिया।

यह देख विक्रम ने सोचा कि अब यहां रहने से अवश्य ही मुझे अपमानित

होना पड़ेगा, क्योंकि यह अपनी दुर्नीति का परित्याग न करेगा। अतः यहां से निकल जाना ही उचित है। तब अपने छोटे भाई जयसिंह को तथा अन्य अनुयायियों को लेकर कल्याण से निकल गया।

इस बात को सहन न कर सोमेश्वर ने उसके पीछे ही बड़ी सेना भेज दी। अपने बड़े भाई के साथ युद्ध करना ठीक नहीं यह जान कर भी अगतिक गति होकर विक्रम को युद्ध के लिये तैयार होना पड़ा। और क्षण भर में ही सोमदेव की सेना को उसने विध्वस्त कर दिया। अनेक बार सेना के भेजने पर भी सोमदेव अपने मनोरथों को सफल न कर पाया। तदनन्तर विक्रमने तुंगभद्रा नदी की ओर जाकर उसके किनारे अपना डेरा डाला और वहीं से अन्य राजाओं को जीतना प्रारंभ किया। फिर कुछ समय तक वनवास-मंडल में रहा।

कोंकण देश के राजा जयकेशी ने अत्यन्त नम्र होकर उसे बहुत सी धनराशि भेंट की।

आलुपराजा उसकी शरण में आकर अपने ऐश्वर्य को सम्हालने में समर्थ हुआ।

चोलराजाओं को तो विक्रम सदैव खदेड़ा करता था। चोल ने जब देखा कि विक्रम के साथ युद्ध करना बड़ा कठिन है तब सन्धि की प्रार्थना करने के लिये अपने दूत को उसकी सभा में भेजा। विक्रम ने उसकी सन्धि को स्वीकार कर लिया। और चोल ने अपनी कन्या का विवाह उससे कर दिया। चोल नृपति की अपनी राजधानी वापस आने के थोड़े ही समय बाद मृत्यु हो गई और राजधानी में विप्लव मच गया। इस बात को सुनकर विक्रम ने कांची जाकर उस विप्लव को दबाया और अपने श्यालक को वहां का राजा बनाया। उसी तरह गांगकुड जाकर वहां भी विजय प्राप्त की और अपने श्यालक को वहां का भी राजा बनाया। एक मास तक गांगकुड में रहकर फिर तुङ्गभद्रा वापस आया।

परन्तु विक्रम का यह सारा प्रयत्न विफल रहा क्योंकि थोड़े ही समय के बाद उस नवीन राज्य में विप्लव हो उठा और विक्रम के श्यालक अर्थात् चोल के पुत्र की मृत्यु हुई।

राजिग नामक वेंगदेश के राजा ने कांची के सिंहासन पर अपना अधिकार कर लिया। इस समाचार को सुन विक्रम ने राजिग पर आक्रमण करने के लिये अपनी सेना को तैयार कर कांची की ओर प्रस्थान किया। राजिग ने विक्रम से संधि करली जिससे विक्रम के बड़े भाई सोम देव के क्रोध का ठिकाना न रहा। भाई से बदला लेने के लिये यही अवसर उचित है, ऐसा सोचकर सोमेश्वर ने विक्रम पर पीछे से आक्रमण कर दिया। भाई के साथ युद्ध करना अनुचित है ऐसा समझकर विक्रम ने दूत भेज कर भाई को वहुत समझाया परन्तु कुछ फल न निकला। अन्त में युद्ध हुआ, और विक्रम अपने पराक्रम से विजयी हुआ। राजिग भाग कर कहीं चला गया और सोमेश्वर को पकड़ कर बन्दी बना लिया गया। अब कल्याण नगरी का शासन विक्रम करने लगा। विक्रम ने अपने भाई से २५ दिसम्बर १०७५ ई० से ३० जून १०७६ ई० के बीच राज्य जीता।

विक्रम ने 'करहाट' राजकुमारी चन्द्रलेखा को स्वयंवर में जीता और उसे अपनी पटरानी बनाया। राज्यारोहण के कुछ समय के अनन्तर छोटे भाई जयसिंह ने जो वनवास मंडल का शासन करता था, एक लंबी सेना एकत्रित करके विक्रम पर चढ़ाई बोल दी। विक्रम ने उसे बहुत कुछ समझाया परन्तु फल कुछ नहीं हुआ, अन्त में युद्ध हुआ और जयसिंह हार गया और जयसिंह की सेना पराजित होकर भाग खड़ी हुई। भागे हुए जयसिंह को सैनिकों ने राजा के सामने उपस्थित किय। तब विक्रम ने उसे साम वचनों से बहुत कुछ समझाया और विक्रम अपनी कल्याण नगरी में वापस आया। चोलों ने फिर एक वार अपना सिर ऊंचा किया तब युद्ध करने के लिये विक्रम को फिर कांची जाना पड़ा। वहां जाकर चोलों का अच्छी तरह दमन किया और उनको पराजित कर उनकी राजधानी कांची को अपने आधीन कर लिया। वहां कुछ दिन रहकर विक्रम अपनी राजधानी कल्याण को वापस आया।

इस प्रकार समस्त शत्रुओं को पराजित कर विक्रम ने सब प्रकार से सुख-शान्ति-समृद्धि का एकछत्र राज्य स्थिर कर लिया। उसके राज्य में अकाल, मृत्यु या दुर्भिक्ष नाम के लिये भी नहीं थे। प्रकृति देवी भी पूर्ण रूपेण उसकी सहायता करती थी। उसका राज्य दक्षिण में तुङ्गभद्रा से लेकर उत्तर में नर्मदा तक फैला

हुआ था। अपनी राज्य-समृद्धि के लिये वह सर्वदा प्रयत्नशील रहा करता था। याज्ञवल्क्य स्मृति-मिताक्षरा के रचयिता महापंडित विज्ञानेश्वर भी इसी के आश्रय में थे।

मुझे विश्वास है कि इतनी प्रस्तावना इस छोटी सी पुस्तिका के लिये पर्याप्त होगी। कवि-तत्कृति एवं प्रस्तुत महाकाव्य के सम्बन्ध में जितनी सामग्री आवश्यक है वह सब इस प्रस्तावना में संजोई गई है। परीक्षार्थी छात्र गण का यदि इससे लाभ हो सका तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूंगी।

सौ० निमल मुलगांवकर M. A., B. T.

छन्दः-परिचयः

(एकादशाक्षरा वृत्तिः)

(१) स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः

ऽऽ।	ऽऽ।	।ऽ।	ऽ ऽ
त	त	ज	गु गु

यदि तौ तकारद्वयं (तगण द्वयं) जगणो गुरुद्वयं च भवति तदा इन्द्रवज्रा नाम वृत्तं भवति। अत्र पादान्ते विरामो भवति।

(२) उपेन्द्र वज्राप्र थमेल घौसा

।ऽ।	ऽऽ।	।ऽ।	ऽ ऽ
ज	त	ज	गु गु

प्रथमे वर्णे लघौ सति सा इन्द्रवज्रैव उपेन्द्रवज्रा भवति ततश्च जगण-तगण-जगणाः गुरुद्वयं चेत् तदा उपेन्द्रवज्रा नाम वृत्तं भवतीत्यर्थः। अत्रापि चरणान्ते विरामः।

(३) अनन्तरोदीरित लक्ष्मभाजौ
पादौ यदीया वुपजातय स्ताः

यस्य वृत्तस्य संबन्धिनौ पादौ चरणद्वयम् अनन्तरम् उदीरितयोः उक्तयोः इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोः लक्ष्मभाजौ लक्षणाक्रान्तौ ता उपजातयः नाम वृत्तानि, अत्रापि चरणान्ते यतिः = विश्रामो भवति।

विक्रमांकचरितस्य प्रथमसर्गे उपजातिवृत्तात्मकानि पद्यानि, केवल मन्तिमं पद्यं शार्दूलविक्रीडिते।

गिरांप्र	वृत्तिमं	मनीर	सापिमा	न्याभवि	त्रीनृप	तेश्चरित्रैः	
।ऽ।	ऽऽ।	।ऽ।	ऽ ऽ	ऽऽ।	ऽऽ।	।ऽ।	ऽ ऽ
ज	त	ज	गु गु	त	त	ज	गु गु

के वान	शुष्कांमृ	दमश्र	सिन्धु	संवन्धि	नींमूर्ध	निधार यन्ति
ऽऽ।	ऽऽ।	।ऽ।	ऽ ऽ	ऽऽ।	ऽऽ।	।ऽ।ऽऽ
त	त	ज	गु गु	त	त	ज गु गु

अत्र उपजाति वृत्तम् । प्रथम चरणे उपेन्द्रवज्रा लक्ष्म, चरणान्त्याक्षरं 'पि' पादान्तस्थं विकल्पेन गुरुभवति इति गुरु । द्वितीय चरणे इन्द्रवज्रालक्ष्म, अत्रापि पादान्त्याक्षरं 'ति' गुरु ।

तृतीय चतुर्थ चरणयोः इन्द्रवज्रा, द्वयोर्मिश्रितत्वादुपजातिवृत्तम् ।

गण-लक्षणम्

आदि मध्यावसानेषु भजसा यान्ति गौरवम्
यरता लाघवं यान्ति मनौतु गुरुलाघवम्

ऽ ।
गुरु—लघु के चिह्न

(तीन वर्णों का एक गण होता है जिसमें प्रथम गुरु हो और दो लघु हों उसे 'भ' गण कहते हैं 'जगण' में मध्यगुरु होता है अर्थात् प्रथमाक्षर और अन्तिम अक्षर लघु होते हैं ।

'सगण' में अन्त्याक्षर गुरु होता है, अर्थात् प्रथम दो लघु होते हैं । 'यगण' में प्रथमाक्षर लघु, द्वितीय और तृतीय गुरु होते है । 'रगण' में मध्याक्षर लघु होता है प्रथम और तृतीय गुरु होते हैं । 'त' गण में अन्त्याक्षर लघु होता है । अर्थात् प्रथम दो गुरु होते हैं । तीनों गुरु जिसमें होते हैं वह 'भ' गण होता है । 'न' गण में तीनों लघु होते हैं ।

ह्रस्व स्वर को लघु और दीर्घ स्वर को गुरु कहते हैं । कहां कहां दीर्घ समझा जाय, इसलिये यह श्लोक दिया जाता है ।

संयुक्ताद्यं दीर्घं सानुस्वारं विसर्गसम्मिश्रम् । ९
विज्ञेयमक्षरं गुरु पादान्तस्थं विकल्पेन ।

संयोग के आदि का अक्षर गुरु जानना चाहिये । तथा दीर्घ को गुरु जानना चाहिये, अनुस्वार युक्त अक्षर तथा सविसर्ग अक्षर गुरु होता है, पाद के अन्त में लघु अक्षर भी कभी-कभी गुरु जानना चाहिये ।

भ	ज	स	य	र	त	म	न
ऽ।।	।ऽ।	।।ऽ	।ऽऽ	ऽ।ऽ	ऽऽ।	ऽऽऽ	।।।

शार्दूल विक्रीडितम्

सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम् । यस्य चरणे क्रमशः मसजस्तताः मगण सगण जगणसगण तगण तगणाः ततश्चैको गुरुः स्यात् तदा शार्दूलविक्रीडितं नामवृत्तं भवति तद् वृत्तं सूर्याश्वैः = द्वादशभिः सप्तभिश्च विच्छिन्नं भवति एकोनविंशत्यक्षरं छन्दः ।

उदाहरणम्

ब्रूमस्त	स्यकिम	स्त्रकौश	लविधौ,	देवस्य	विक्राम	तः
S S S	I I S	I S I	I I S	S S I	S S I	S
म	स	ज	स	त	त	गु

अत्र द्वादशभिरक्षरैः सप्तभिश्च विरतिः ।







विक्रमाङ्कदेव-चरितम्

'सुचारु'-'सुरभि'-संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

प्रथमः सर्गः

भुजप्रभादण्ड इवोर्ध्वगामी स पातु वः कंसरिपोः कृपाणः ।
यः पाञ्चजन्य-प्रतिबिम्बभङ्ग्या धाराम्भसः फेनमिव व्यनक्ति ॥१॥

अन्वयः—ऊर्ध्वगामी भुजप्रभादण्डः इव कंसरिपोः सः कृपाणः वः पातु, यः पाञ्चजन्य-प्रतिबिम्बभङ्ग्या धाराम्भसः फेनं व्यनक्ति इव ॥

व्याख्या—'आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखमि'ति शास्त्रात् महाकविः काश्मीरकभट्टः, श्रीबिल्हणः स्वीयमहाकाव्यस्य निर्विघ्नपरिसमाप्तिकामनया काव्यादौ पद्याष्टकेनाशीर्वादात्मकम्मङ्गलमाचरति—ऊर्ध्वगामीति । 'ऊर्ध्वङ्गन्तुं शीलमस्य-सः-ऊर्ध्वङ्गच्छतीति वा (उपपदसमासः)—ऊर्ध्वगामी=उपरिष्टात्प्रसरणशीलः । [ऊर्ध्वमिति द्वितीयान्तोपपदाद् 'गमेः' 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये' इति 'णिनिः'] भुजयोः=बाह्वोः, प्रभा=कान्तिः, तस्या दण्डः=पुञ्जः, दण्डायमानोबाहुतेजःपुञ्ज-इवेत्यर्थः । कंसस्य रिपुः तस्य कंसरिपोः=कंसारेः, कंसहन्तुः श्रीकृष्णस्येत्यर्थः । सः प्रसिद्ध इति यावत् । कृपां नुदतीति—कृपाणः=करवालः, खड्ग इत्यर्थः । ['णुद= प्रेरणे ततो 'ऽन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति 'डः', डित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः, 'पूर्व-पदात्संज्ञायामग' इति णत्वम्] युष्मानस्मानन्यांश्च-वः 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्य' मित्येक-शेषः । 'क्वचित्पूर्वशेषोऽपि दृश्यते युष्मच्छब्दस्यैव' [पातु=रक्षतु पा=रक्षणे, लोटि प्रथम-पुरुषैकवचने रूपम्] कंसरिपोः कृपाणस्य ऊर्ध्वप्रसरणशीलत्वरूपसमानधर्मसम्बन्ध-निमित्तकं भुजकान्तिदण्डत्वेनाहार्यसंभावनमुत्प्रेक्षा, इवपदवाच्या । यच्छब्दस्य पूर्वपरामर्शित्वाद् यः=कृपाणः । पाञ्चजन्यस्य = लक्ष्मीपतेः शंखस्य, 'शंखो

लक्ष्मीपतेः पाञ्चजन्य' इत्यमरः। प्रतिबिम्बम् = प्रतिफलनम् तस्य भङ्गिस्तया = व्याजेन।' व्याजच्छलनिभे भङ्गिर्वैदर्भीतनमीलिके'तिरभसः। धारा=तीक्ष्णाग्रभाग एवाम्भो जलं तस्य धाराम्भसः = कृपाणधाराजलस्य। फेनम् = डिण्डिरं "डिण्डिरोऽब्धिकफः फेनः"-इत्यमरः। व्यनक्तीव=प्रकटयतीव। अत्र पूर्वार्धे-पूर्णोपमा 'उपमानोपमेयसाधारणधर्मोपमाप्रतिपादकानामुपादाने पूर्णा, तत्रापीवशब्दोपादानाच्छ्रौती। यथाह भट्टमम्मटः-'यथेववादिशब्दा यत्परास्तस्यैवोपमानताप्रतीतिरिति यद्यप्युपमानविशेषणान्येते तथापि शब्दशक्तिमहिम्ना श्रुत्यैव षष्ठीवत् संबन्धं प्रतिपादयन्तीति तत्सद्भावे श्रौती उपमा। उत्तरार्धे योत्प्रेक्षा, तल्लक्षणं यथा—'सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्।' अत्र कृपाणगतपाञ्चजन्यप्रतिबिम्बस्योपमेयस्य फेनेनोपमानेन सहाभेदसंभावनयोत्प्रेक्षा। अस्मिन् सर्गे उपजातिवृत्तम्। वैदर्भीरीतिः। प्रसादसंसृष्टौजोगुणः। अस्मिन् काव्ये वीररसोऽङ्गीति मङ्गलेनैव प्रतीयते। अत्र च श्रीकृष्णनिष्ठोत्साहस्य प्रतीयमानस्य, कविनिष्ठकृष्णविषयकभावेऽङ्गत्वात्प्रेयोऽलङ्कारः। वीररसस्य चापि अङ्गत्वात् रसालङ्कारश्च। अत्र भगवत्कृपाणस्य वर्णनात् तस्याऽलौकिकत्वमभिव्यज्यते इति वस्तुध्वनिः।

भाषार्थः—ऊर्ध्वस्फुरणशील-भुजदण्ड की कान्ति-पुञ्ज के समान कंसारि श्रीकृष्णचन्द्रका विश्वप्रसिद्ध खड्ग तुम्हारी, हमारी तथा औरों की भी रक्षा करे। पांचजन्य नामक शंख की प्रतिफलित छाया के बहाने जो (कृपाण) खड्गधारारूपी जलके फेन को ही मानो प्रकट कर रहा है ॥ १ ॥

श्रीधाम्नि दुग्धोदधिपुण्डरीके यश्चञ्चरीकद्युतिमातनोति।
नीलोत्पलश्यामलदेहकान्तिः स वोऽस्तु भूत्यै भगवान्मुकुन्दः ॥२॥

अन्वयः—यः नीलोत्पलश्यामलदेहकान्तिः श्रीधाम्नि दुग्धोदधिपुण्डरीके चञ्चरीकद्युतिम् आतनोति, सः भगवान् मुकुन्दः वः भूत्यै अस्तु।

व्याख्या—यः-श्रीकृष्णचन्द्र इत्यर्थः। नीलञ्च तदुत्पलञ्च=नीलोत्पलन्तद्वच्छ्यामला,-देहस्य कान्तिः-देहकान्तिर्यस्य स नीलोत्पलश्यामलदेहकान्तिः=नीलकमलनिभनीलतनुः। श्रियो लक्ष्म्याः शोभायाश्च धाम=गृहमाश्रयस्तस्मिन्-श्रीधाम्नि=लक्ष्मीनिवासस्थाने। धामतेजो गृहेमणौ-इत्यमरः। दुग्धोदधिरेव-क्षीरसागर एव पुण्डरीकं सिताम्भोजं-तस्मिन्दुग्धोदधिपुण्डरीके=क्षीरसागरमये श्वेतकमले। चञ्चरीकस्य=भ्रमरस्य द्युतिं कान्तिम्-चञ्चरीकद्युतिम् = भ्रमराभाम्। आतनोति =

विस्तारयति। सः इति प्रसिद्धपरामर्शी तच्छब्दः। भगोऽस्त्यस्य स भगवान्=षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नः। 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चापि षण्णाम्भग इतीरणा॥' इतिस्मृतेः। [भगशब्दात् 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्', 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्य' इति मकारस्य वकारः] मुकुन्दः=श्रीविष्णुः। युष्माकमस्माकमन्येषां चेति वः ['त्यदादीनीत्येकशेषः, क्वचित्पूर्वशेषोऽपि' इति च] भूत्यै=ऐश्वर्याय। [तादर्थ्ये चतुर्थी] अस्तु। ऐश्वर्यप्रदो भवत्वित्यर्थः। अत्र धकारस्य तकारस्य लकारस्य च बहुकृत्वः सादृश्याद् वृत्यनुप्रासः। पूर्वार्धे-दुग्धोदधिपुण्डरीके इत्यत्र रूपकम्। वृत्यनुप्रासलक्षणम्-'एकस्याप्यसकृत्पर' इति मम्मटः। रूपकस्य लक्षणम्—'तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययो' रिति मम्मटः। उत्तरार्धे च नीलोत्पलस्येव श्यामलदेहकान्तेःसद्भावादुपमा। चञ्चरीकद्युतिमिवद्युतिमित्यर्थावगमात् पदार्थनिदर्शना। अतः सर्वेषां संसृष्टिः। क्षीरसागराहि भगवतो नारायणस्य निवासस्थानं, लक्ष्म्याश्च निवासस्थानं कमलमिति प्रसिद्धिः। शुक्लत्वसाम्याद् दुग्धोदधौ पुण्डरीकत्वारोपेण एकत्रैव लक्ष्मीनारायणयोरवस्थितिरितिध्वन्यते।

भाषार्थः—जो (भगवान्) नीलकमल के सदृश अपनी श्यामल शरीरकान्ति से लक्ष्मी के निवासस्थान क्षीरसमुद्ररूपी श्वेतकमल में भ्रमरों की शोभा को विस्तारित करते हैं, वे भगवान् मुकुन्द तुम्हारी, हमारी तथा औरों की भी समृद्धि के लिये हों। अर्थात् सबके लिये ऐश्वर्यप्रद हों॥ २॥

वक्षःस्थली रक्षतु सा जगन्ति जगत्प्रसूतेर्गरुडध्वजस्य।
श्रियोऽङ्गरागेण विभाव्यते या सौभाग्यहेम्नः कषपट्टिकेव॥ ३॥

अन्वयः—जगत्प्रसूतेः गरुडध्वजस्य सा वक्षःस्थली जगन्ति रक्षतु, या सौभाग्यहेम्नः कषपट्टिकेव श्रियः अङ्गरागेण विभाव्यते।

व्याख्या—जगत्प्रसूतेरिति। जगतां = भुवनानां, प्रसूतिः = कारणं-तस्याः= जगत्प्रसूतेः=विष्टपकारणस्य। 'विष्टपं भुवनं जगदित्य'मरः। [प्रपूर्वकात् प्राणिप्रसवार्थकषूङ्धातोः 'स्त्रियां क्तिन्नि'ति 'क्तिन्'] गरुडः=सुपर्णः ध्वजे=पताकायां यस्य सः—तस्य=गरुडध्वजस्य=विष्णोः। सा प्रसिद्धेति यावत्। लक्ष्म्या निवासस्थानभूतेत्यर्थः। वक्षःस्थली=उरःस्थलम्। जगन्ति=भुवनानि। रक्षतु=अवतु। या (वक्षःस्थली) सुभगस्य भावः सौभाग्यम्। [सुभगशब्दाद् 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः

कर्मणि चे'ति भावे घञ् , 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य चे'त्युभयपदवृद्धिः ।] तदेव हेम=सुवर्णन्तस्य = सौभाग्यहेम्नः । कषपट्टिका = निकषोपलिका । इव । श्रियः= लक्ष्म्याः । अङ्गरागेण=देहवर्णेन । विभाव्यते=ज्ञायते। सौभाग्यमेव हेम इतिरूपकम् । तस्य कषपट्टिकेवेत्युत्प्रेक्षेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावसङ्करः ।

भाषार्थः—जगज्जनक गरुडध्वज विष्णु का वह वक्षस्थल, भुवनों की रक्षा करे, जो लक्ष्मी के शरीरवर्ण से सौभाग्यरूप सुवर्ण की कसौटी के सदृश ज्ञात होता है ॥ ३ ॥

एकः स्तनस्तुङ्गतरः परस्य वार्तामिव प्रष्टुमगान्मुखाग्रम् ।
यस्याः प्रियार्धस्थितिमुद्वहन्त्याः सा पातु वः पर्वतराजपुत्री ॥ ४ ॥

अन्वयः—प्रियार्धस्थितिमुद्वहन्त्याः यस्याः तुङ्गतरः एकः स्तनः परस्य वार्तां प्रष्टुम् इव मुखाग्रम् अगात् सा पर्वतराजपुत्री वः पातु ।

व्याख्या—प्रियार्धस्थितिमिति । प्रियस्य=पत्युः अर्धनारीश्वरस्य शिवस्येत्यर्थः । अर्धे=अर्धभागे, स्वीये दक्षिणाङ्ग इत्यर्थः । या स्थितिस्ताम् प्रियार्धस्थितिम्=शिवस्य गौरीदक्षिणाङ्गावस्थानम् । उद्वहन्त्याः=धारयन्त्याः । [उत्पूर्वाद् वहे 'लटः शतृ शानचावप्रथमासमानाधिकरण' इति शतृप्रत्यये 'शप्श्यनोर्नित्य'मिति नुमि, 'उगितश्चे'ति ङीप्] यस्याः=पार्वत्याः । तुङ्गतरः=द्वयोर्मध्येऽतिशयेन तुंगः । [तुङ्ग-शब्दात् 'द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुना'विति तरप्] उन्नततरः। एकः वाम इत्यर्थः । स्तनः=कुचः । परस्य=अन्यस्य, दक्षिणस्तनस्येत्यर्थः । वार्तां=वृत्तान्तम् । 'वार्ता-प्रवृत्तिर्वृत्तान्त उदन्तः स्या'दित्यमरः । प्रष्टुं=ज्ञीप्सितुम् । इव । मुखाग्रं=पार्वत्या मुखाग्रभागम् । अगात्=अयासीत् । [इण् धातोर्लुङि प्रथमपुरुषैकवचने रूपम् 'इणो गा लुङी'तिगादेशः, 'गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु'ति सिचो लुक्] सा (पूर्व-वर्णिता) पर्वतराजपुत्री=पार्वती । वः=युष्मान् । पातु=रक्षतु । वृत्तान्तप्रश्नस्यापर-स्तनकर्तृक-पार्वतीमुखाग्रकर्मकगमनसम्बन्धिफलत्वेनोत्प्रेक्षणात्फलोत्प्रेक्षा । अत्रार्धना-रीश्वरोऽभिव्यज्यते । उद्वहन्त्या इति पदसामर्थ्यात्पर्वतराजपुत्रीत्यत्र परिकराल्ङ्का-रात् पार्वत्या उद्वहनक्षमत्वं सूच्यते ।

भाषार्थः—अर्धनारीश्वर-प्रियपति की स्वदक्षिणाङ्ग में स्थिति को धारण करने वाली जिस पार्वती का एक अति उच्च (वाम) स्तन, दूसरे (दक्षिण) स्तन

की मानों वार्ता पूछने के लिये पार्वती के सन्मुख उपस्थित हुआ। वह पर्वत-राज हिमालय की पुत्री पार्वती तुम्हारी रक्षा करे ॥ ४ ॥

सान्द्रां मुदं यच्छतु नन्दको वः सोल्लासलक्ष्मी-प्रतिबिम्बगर्भः ।
कुर्वन्नजस्रं यमुनाप्रवाह-सलील-राधा-स्मरणं मुरारेः ॥ ५ ॥

अन्वयः—सोल्लासलक्ष्मीप्रतिबिम्बगर्भः नन्दकः मुरारेः यमुनाप्रवाहसलील-राधास्मरणम् अजस्रं कुर्वन् सान्द्रां मुदं वः यच्छतु ।

व्याख्या—सोल्लासेति । उल्लासेन सह वर्तमाना सोल्लासा ['तेन सहेति-तुल्ययोग'इति तुल्ययोगे बहुव्रीहिः] 'वोपसर्जनस्ये'ति सहस्य सभावः] सोल्लासा चासौ लक्ष्मीश्चेति कर्मधारयः । तस्याः प्रतिबिम्बं=प्रतिच्छाया गर्भे यस्य सः—(बहुव्री०) सोल्लासलक्ष्मीप्रतिबिम्बगर्भः=सलीललक्ष्मीप्रतिच्छायमध्यः । नन्दकः=लक्ष्मीपतेः खड्गः । 'खड्गो नन्दक'इत्यमरः । मुरस्य अरिस्तस्य—मुरारेः = मुरनिषूदनस्य, विष्णोरित्यर्थः । यमुनाप्रवाहस्य सलीलराधायाश्च स्मरणं = स्मृतिम्—यमुनाप्रवाहसलीलराधास्मरणम्=कालिन्दीधारासविलासराधिकास्मृतिम् । अजस्रं=निरन्तरं । कुर्वन्=विदधत् । सान्द्रां=निविडां घनामिति यावत् 'घनं निरन्तरं सान्द्रमि'त्यमरः । मुदं=प्रीतिम् 'मुत्प्रीतिः प्रमदो हर्ष' इत्यमरः । वः=युष्मभ्यं [चतुर्थी सम्प्रदान इति चतुर्थी] यच्छतु=ददातु । मुरारेरित्यत्र 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' इति स्मरणयोगात् कर्मणि षष्ठी । नन्दकस्य यमुनाप्रवाहेण लक्ष्म्याश्च राधया साम्यमिति श्रीकृष्णस्य स्मृतिः सङ्गच्छते । प्रतिफलितलक्ष्मीके नन्दकसंज्ञके खड्गे दृष्टे सति साम्याद् यमुनासलिले लीलासक्ताया राधायाःश्रीकृष्णकर्तृकस्मरणात् स्मरणालङ्कारः । यथाह मम्मटः—यथानुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृतिः—स्मरणम् ।

भाषार्थः—जिसमें सविलास-लक्ष्मी की परछाई प्रतिफलित हुई है, ऐसा भगवान् विष्णु का नन्दकनामक खड्ग भगवान् को यमुनाप्रवाह का तथा लीला-विलसितराधा का निरन्तर स्मरण कराता हुआ तुम को तथा सभी को यथेष्ट आनन्द-प्रदान करे ॥ ५ ॥

पार्श्वस्थपृथ्वीधरराजकन्याप्रकोपविस्फूर्जितकातरस्य ।
नमोऽस्तु ते मातरिति प्रणामाः शिवस्य सन्ध्याविषया जयन्ति ॥ ६ ॥

अन्वयः—पार्श्वस्थपृथ्वीधरराजकन्याप्रकोपविस्फूर्जितकातरस्य शिवस्य (हे) मातः ! ते नमः अस्तु इति सन्ध्याविषयाः प्रणामाः जयन्ति ।

व्याख्या—पार्श्वस्थेति। धरन्तीति धराः ['नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यच' इति धृञ् धातोः पचादित्वादच्] पृथिव्या धराः-पृथ्वीधरा-स्तेषां राजा-पृथ्वीधरराजः। ['राजाहःसखिभ्यष्टच्' इति टच्। 'नस्तद्धिते' इति नान्तस्य भस्य टेर्लोपः।] तस्य कन्या-पृथ्वीधरराजकन्या। पार्श्वे तिष्ठतीति पार्श्वस्था (उपप. स.) ['आतोऽनुपसर्गे कः' इति कः। 'आतो लोप इटि चे'त्याकारलोपः] सा चासौ पृथ्वीधरराजकन्येति-पार्श्वस्थ-पृथ्वीधरराजकन्या-तस्याः प्रकोपस्तस्य विस्फूर्जितं=विचेष्टितं, तस्मात् कातरस्तस्य पार्श्वस्थपृथ्वीधरराजकन्याप्रकोपविस्फूर्जितकातरस्य=वामाङ्गस्थितपर्वतराजहिमाचल-सुतायाः पार्वत्या ईर्ष्याजन्यक्रोधातिशयस्य विचेष्टिताद् विलासाद् वा भीतस्य। (हे) मातः! सन्ध्याविषयाः=सन्ध्यामुद्दिश्य विहिताः, सन्ध्यामधिकृत्य कृता इत्यर्थः। प्रणामाः। जयन्ति=अत्युत्कर्षेण वर्तन्ते। (एकदा शिवः सन्ध्यां कामयमानः पार्वत्यां भृशं कुपितायां व्याजवचनैः स्वापराधं जुगोपेति प्रतीयते)।

भाषार्थः—पासही में विराजमान पर्वतराज हिमाचल की कन्या पार्वती जी के विशेष कोप के अविर्भाव से भयभीत हुए शिवजी के हे मातः! तुम्हारे लिये प्रणाम हैं, इस प्रकार सन्ध्या समय को देवो को किये हुए प्रणाम उत्कर्ष को प्राप्त होते हैं। अर्थात् महादेव को संध्या कामिनी में अनुरक्त जानकर पार्वती अत्यन्त कुपित हुई, तब महादेव ने संध्या की अधिष्ठात्री देवता को माता कहकर प्रणाम किया, जिससे पार्वती का भ्रम दूर होकर, क्रोध शान्त हुआ।

वचांसि वाचस्पति-मत्सरेण साराणि लब्धुं ग्रहमण्डलीव।
मुक्ताक्षसूत्रत्वमुपैति यस्याः सा सप्रसादाऽस्तु सरस्वती वः॥ ७॥

अन्वयः—ग्रहमण्डली वाचस्पतिमत्सरेण साराणि वचांसि लब्धुम् इव यस्याः मुक्ताक्षसूत्रत्वम् उपैति सा सरस्वती वः सप्रसादा अस्तु।

व्याख्या—ग्रहमण्डलीति। ग्रहाणां मण्डली ग्रहमण्डली=ग्रहसमुदायः। वाचस्पतये मत्सरस्तेन-वाचस्पतिमत्सरेण=वाचस्पतिद्वेषेण, ग्रहत्वसाम्येऽप्येष सुराचार्यो गुरुर्वाचस्पतिरित्यसूयया। साराणि=तत्त्वभूतानि। वचांसि=ज्ञानोत्पादकानि वाक्यानि। लब्धुमिव प्राप्तुमिव। यस्याः=सरस्वत्याः। मुक्ताक्षसूत्रत्वं=मौक्तिकजप-मालिकाभावम्। उपैति=प्राप्नोति, तद्रूपेण परिणमत इत्यर्थः। सा सरस्वती=वाग्देवता। वः=युष्मभ्यं [तादर्थ्ये चतुर्थी] सप्रसादा=सानुग्रहा [प्रपूर्वकात् सदेः 'हलश्चे'ति भावे घञ्] 'प्रसादोऽनुग्रहः स्वास्थ्यप्रसक्तिषु काव्यगुणे' इति हैमः।

अस्तु=भूयात्। (बृहस्पतिमात्सर्यहेतुकवचःसारप्राप्तीच्छाया ग्रहमण्डल्यां मुक्ताक्षसूत्रत्वारोपे फलत्वेनोत्प्रेक्षणात् फलोत्प्रेक्षा, इवपदवाच्या।)

भावार्थः—बृहस्पति के अतिरिक्त सूर्यादिग्रहों का समुदाय सोचने लगा कि, बृहस्पति का और हमारा साम्य होने पर भी अर्थात् वह भी ग्रह-कोटि में है और हम भी, तथापि वह सुराचार्य और वाक्पति, अर्थात् वाणी उसकी वशवर्तिनी है इस असूया से उससे भी अधिक तत्त्वभूतवचनों को प्राप्त करने के लिये जिसकी जपमालिका के मौक्तिकमणियों के रूपमें मानो परिणत हो गया। वह सरस्वती तुमपर अनुग्रह करे ॥ ७ ॥

अशेषविघ्नप्रतिषेधदक्ष-मन्त्राक्षतानामिव दिङ्मुखेषु।
विक्षेपलीलाकरशीकराणां करोतु वः प्रीतिमिभाननस्य ॥ ८ ॥

अन्वयः—दिङ्मुखेषु अशेषविघ्नप्रतिषेधदक्षमन्त्राक्षतानाम् इव इभाननस्य करशीकराणां विक्षेपलीला वः प्रीतिं करोतु।

व्याख्या—दिङ्मुखेष्विति। दिशां मुखानि तेषु-दिङ्मुखेषु=सर्वासु दिक्षु। अशेषा विघ्नास्तेषां प्रतिषेधस्तत्र दक्षा ये मन्त्राक्षतास्तेषाम्=सम्पूर्णान्तरायध्वंससमर्थवैदिकमन्त्राक्षतानाम्। 'लाजाः पुम्भूम्नि चाक्षताः' इत्यमरः। इव। इभस्याननमिवाननं यस्य सः, तस्य-इभाननस्य=गजाननस्य। करशीकराणां=शुण्डादण्डोत्क्षिप्तजलबिन्दूनाम्। विक्षेपलीला=विक्षेपविलासः। वः=युष्माकं [सम्बन्धसामान्ये षष्ठी] प्रीतिम्=आनन्दं करोतु=विदधातु। करशीकरेषु मन्त्राक्षतत्वस्योत्प्रेक्षणाद्वस्तूत्प्रेक्षा।

भावार्थः—सर्वत्र विघ्ननिवारण करने में समर्थ वैदिक मंत्राक्षतों के सदृश श्रीगजानन प्रभु के शुण्डादण्ड से विकीर्ण जलकणों का विलास तुम लोगों को प्रसन्न करे ॥ ८ ॥

अथोपक्रमणिकां प्रस्तौति—

अनभ्रवृष्टिः श्रवणामृतस्य सरस्वतीविभ्रमजन्मभूमिः।
वैदर्भरीतिः कृतिनामुदेति सौभाग्यलाभप्रतिभूः पदानाम् ॥ ९ ॥

अन्वयः—श्रवणामृतस्य अनभ्रवृष्टिः सरस्वतीविभ्रमजन्मभूमिः पदानां सौभाग्यलाभप्रतिभूः वैदर्भरीतिः कृतिनाम् उदेति।

व्याख्या—श्रवणेति । श्रवणयोः=कर्णयोः, अमृतस्य=सुधायाः-श्रवणामृतस्य=कर्णकुहरसन्तर्पकपीयूषस्य । अनभ्रे=पयोदादर्शनेऽपि वृष्टिः=वर्षणम् अनभ्रवृष्टिः=अतर्कितोपनतवृष्टिलाभ इत्यर्थः । सरस्वत्याः=वाग्देवताया विभ्रमाणां=विलासानां जन्मभूमिः=उत्पत्तिस्थानम् । पदानां=सुप्तिङन्तात्मनाम् । सौभाग्यस्य [सुभगशब्दाद् 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' इति भावे ष्यञ् । 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च' इत्युभयपदवृद्धिः]=सुभगतायाः सौष्ठवस्येति यावत् । लाभः=सम्प्राप्तिः तस्य=प्रतिभूः=प्रतिलग्निका । वैदर्भरीतिः=सर्वगुणव्यञ्जकवर्णवती रीतिः । तल्लक्षणं च—'माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका । अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥' कृतिनां=भाग्यवतां कुशलानां च कवीनाम् । (कृतौ) उदेति=प्रकाशते । वैदर्भरीतौ तादृशवृष्टेस्तादृशजन्मभूमेस्तादृशस्य च प्रतिभूत्वस्यारोपः । केवलं भाग्यवन्तः कुशलाश्च तथाविधालौकिकगुणविशिष्टवैदर्भरीतौ काव्यं विरचयितुं प्रभवन्तीत्यभिप्रायः । वैदर्भरीतौ श्रवणामृतानभ्रवृष्टेः वाणीविलासजन्मभूमेः सौभाग्यलाभप्रतिभूत्वस्यचारोपाद्रूपकालंकारः । यथाह मम्मटः—'तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः ।'

भाषार्थः—कर्णों को आनन्द देनेवाली सुधा की जो अतर्कित वर्षा है, (अथवा) जो सरस्वती के विलासों की जन्मभूमि है, जो पदों के सौन्दर्य का विश्वास दिलानेवाली है, ऐसी वैदर्भीरीति (जिसमें सब गुणों का व्यंजन होता रहता है) वह पुण्यशाली कवियों के काव्यों में ही प्रकट होती है अर्थात् कुशल और भाग्यवान् कविजन ही अलौकिक-गुणशालिनी वैदर्भीरीति में काव्य-रचना करनेमें समर्थ होते हैं ।

जयन्ति ते पञ्चमनादमित्र-चित्रोक्तिसन्दर्भविभूषणेषु ।
सरस्वती यद्वदनेषु नित्यमाभाति वीणामिव वादयन्ती ॥ १० ॥

अन्वयः—पञ्चमनादमित्रचित्रोक्तिसंदर्भविभूषणेषु यद्वदनेषु वीणां वादयन्तीव सरस्वती नित्यम् आभाति, ते जयन्ति ॥ १० ॥

व्याख्या—पञ्चमेति । पञ्चमनादः=सङ्गीतशास्त्रप्रसिद्धः पञ्चमस्वरस्तस्य मित्राणि-(मित्रपदेन सादृश्यं प्रतीयते) तेन सदृशाः, ये चित्रोक्तिसंदर्भाः=चमत्कारकारिवचनकलापाः विभूषणानि=अलंकाराणि येषान्तानि तेषु, येषां=कवीनामित्यर्थः वदनेषु=मुखेषु । वीणां=वल्लकीं । वादयन्ती=झणत्कारं कुर्वाणेव ।

सरस्वती=वाग्देवता । नित्यं=सततम् । आभाति=शोभते । ते=कवयः, सहृदयाश्च । जयन्ति=अत्युत्कर्षेण वर्तंते । कवीनां वदनेषु सरस्वत्या वीणावादनस्य उत्प्रेक्षणात् क्रियास्वरूपधर्मोत्प्रेक्षा ।

भाषार्थः—संगीतशास्त्र-प्रसिद्ध पंचमस्वर के तुल्य चमत्कारोक्तियां जिनके मुखों की आभूषण हैं। जिन कवियों के मुखों में मानो वीणा को वजाती हुई सरस्वती नित्य विराजती है। वे कविगण उत्कर्ष को पाते हैं ॥ १० ॥

साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं कर्णामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः ।
यदस्य दैत्या इव लुण्ठनाय काव्यार्थचौराः प्रगुणीभवन्ति ॥ ११ ॥

अन्वयः—हे कवीन्द्राः! साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं कर्णामृतं रक्षत, यदस्य लुण्ठनाय दैत्या इव काव्यार्थचौराः प्रगुणीभवन्ति ।

व्याख्या—हे कवीन्द्रा इति । हे कवीन्द्राः=कविश्रेष्ठाः । साहित्यमेव पाथोधिः=सागरः । तस्य मन्थनात्=आलोडनात् । उत्थम्=उत्पन्नम् । कर्णामृतं=श्रोत्राह्लादिकां सुधां । रक्षत=रक्षणं कुरुत । यद् यस्मात् । अस्य=काव्यामृतस्येत्यर्थः । लुण्ठनाय=अपहरणाय । दैत्या इव=असुरा इव । काव्यार्थचौराः=सर्वेक्षुद्राः कवयः काव्यार्थचौराः । प्रगुणीभवन्ति=प्रचुरीभवन्ति । [प्रगुणशब्दाद् भूयोगेऽभूततद्भावार्थे 'कृभ्वस्तियोगे संपद्यकर्तरि च्विः' इति च्विः, 'अस्य च्वौ' इति णकारोत्तरवर्त्यकारस्य 'ई' भवति] अप्रगुणाः प्रगुणाः सम्पद्यन्ते प्रगुणीभवन्ति इति विग्रहः । काव्यार्थचौरेषु दैत्यसाम्यादुपमा । यथाह मम्मटः—साधर्म्यमुपमाभेदे ।

भाषार्थः—हे कवीन्द्रों! साहित्य समुद्र के मन्थन से उत्पन्न हुई कर्णसुधा (काव्यार्थ) की रक्षा करो। क्योंकि कर्णपीयूषरूपकाव्यार्थ को लूटने के लिये दैत्यों की भांति काव्यार्थ के चोर क्षुद्रकवि बहुत हो रहे हैं ॥ ११ ॥

गृह्णन्तु सर्वे यदि वा यथेष्टं नास्ति क्षतिः कापि कवीश्वराणाम् ।
रत्नेषु लुप्तेषु बहुष्वमर्त्यैरद्यापि रत्नाकर एव सिन्धुः ॥ १२ ॥

अन्वयः—यदि वा सर्वे यथेष्टं गृह्णन्तु (तथापि) कवीश्वराणां कापि क्षतिः नास्ति । अमर्त्यैः बहुषु रत्नेषु लुप्तेषु (सत्सु) अद्यापि सिन्धुः रत्नाकरः एव ।

व्याख्या—यदि वेति । यदि वा=अथवा । सर्वे=समस्ताः, क्षुद्राः काव्यार्थचौराः कवय इतियावत् । यथेष्टं=पर्याप्तम्, यथाभिमतं कर्णामृतमिति यावत् ।

गृह्णन्तु = चोरयन्तु, अपहरन्तु। कवीश्वराणां=कवीन्द्राणां। कापि = काचित्। क्षतिः = हानिः। नास्ति। अमर्त्यैः = देवैरसुरैश्च। बहुषु = असंख्यातेषु। रत्नेषु= सर्वोत्कृष्टवस्तुषु मणिषु च लुप्तेषु = मन्थनेनापहृतेषु। अद्यापि = इदानीमपि। सिन्धुः = सागरः। रत्नाकरः=रत्नानामाकर एव। दृष्टान्तालङ्कारः, यथाहमम्मटः— 'दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्।'

भाषार्थः—अथवा सब काव्यार्थ चोर क्षुद्र कवि लोग, काव्यामृत का यथेच्छ ग्रहण करें। इससे महाकवियों की कोई हानि नहीं है। देवदानवों ने बहुतसे रत्नों का अपहरण किया तथापि अभी तक समुद्र, रत्नों का निधि ही बना हुआ है॥ १२॥

सहस्रशः सन्तु विशारदानां वैदर्भलीलानिधयः प्रबन्धाः।
तथापि वैचित्र्यरहस्यलुब्धाः श्रद्धां विधास्यन्ति सचेतसोऽत्र ॥१३॥

अन्वयः—विशारदानां वैदर्भलीलानिधयः सहस्रशः प्रबन्धाः सन्तु। तथापि अत्र वैचित्र्यरहस्यलुब्धाः सचेतसः श्रद्धां विधास्यन्ति।

व्याख्या—विशारदानामिति। विशारदानां=कुशलानां प्राचीनकवीनाम्। वैदर्भलीलानिधयः = वैदर्भीरीतिविलासकोषाः, सागरा इति यावत्। सहस्रशः= सहस्राणि, । [सहस्राणि, सहस्राणीति सहस्रशः, नित्यवीप्सयोरितिद्विर्वचनम्। 'संख्यैकवचनाच्च वीप्सायामि'ति संख्या-वचनात् सहस्रशब्दात् 'शस्' प्रत्ययः 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' इति अव्ययत्वं] प्रबन्धाः=काव्यानि। सन्तु। तथापि=तेषु काव्येषु सत्स्वपि अत्र = प्रस्तुते काव्ये। वैचित्र्यरहस्यलुब्धाः = चमत्कारकारिण्युक्तिपूर्णे लोलुपाः। सचेतसः = सहृदयाः। श्रद्धाम् = आस्थाम्। विधास्यन्ति = करिष्यन्ति।

भाषार्थः—काव्यकलाकुशल प्राचीन कवियों के वैदर्भीरीति से परिपूर्ण (गुम्फित) हजारों काव्यों के होने पर भी चित्त को चमत्कृत करनेवाली उक्तियों से भरे हुए इस काव्य में सहृदय लोग श्रद्धा रखेंगे।

कुण्ठत्वमायाति गुणः कवीनां साहित्यविद्याश्रमवर्जितेषु।
कुर्यादनार्द्रेषु किमङ्गनानां केशेषु कृष्णागुरुधूपवासः॥ १४॥

अन्वयः—कवीनां गुणः साहित्यविद्याश्रमवर्जितेषु कुण्ठत्वम् आयाति। अङ्गनानाम् अनार्द्रेषु केशेषु कृष्णागुरुधूपवासः किं कुर्यात्।

व्याख्या—कवीनामिति । कवीनां = काव्यकर्तृणां । गुणः = अलौकिकोक्तिचातुर्यम् । साहित्यविद्यायां = साहित्यशास्त्रे यः श्रमः=गुणनं, तेन वर्जिताः=रहितास्तेषु अरसिकेष्वित्यर्थः । साहित्यविद्या—'आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतयश्चतस्रो विद्याः' इति कौटिल्यः, पञ्चमी साहित्यविद्येति यायावरीयः । सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्दः, शब्दार्थयोर्यथावत् सहभावेन साहित्यविद्या । [सहित-सम्—धा—क्त, 'दधातेर्हिः' इति धास्थाने 'हि' आदेशः । 'समो वाहिततत्तयोः' इति मलोपः । सहितस्य भावः-साहित्यम् 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' इति ष्यञ् । कुण्ठत्वम् - अप्रसरणशीलताम् । आयाति = प्राप्नोति । कल्याणानि अंगानि यासान्तास्तासाम्-अङ्गनानां-सुन्दरीणाम् । ['अङ्गात् कल्याणे' इति अङ्गशब्दात् 'न' प्रत्ययः] अनार्द्रेषु = रूक्षेषु । केशेषु = कुन्तलेषु । कृष्णं च तदगुरु च=कृष्णागुरु= सुगन्धद्रव्यभेदस्य नाम । 'अगुर्ववारुराजार्हमि'ति हैमः । तस्य धूपः=धूप्यतेऽनेनेति-धूपः । धूप = सन्तापे 'हलश्चेति' घञ्] = सन्तापनम् तस्य वासः = सौगन्ध्यं । किं कुर्यात् = न किमपि फलं कुर्यात् , व्यर्थ इति यावत् । दृष्टान्तालङ्कारः ।

भावार्थः—साहित्यशास्त्र से अपरिचित लोगों के समक्ष कवियों का उक्तिचातुर्य सफल नहीं होता, जैसे सुन्दरियों के रूक्षकेशकलाप में कृष्णागुरुनामक धूप की सुगन्ध विफल रहती है ॥ १४ ॥

प्रौढिप्रकर्षेण पुराणरीति-व्यतिक्रमः श्लाघ्यतमः पदानाम् ।
अत्युन्नति-स्फोटित-कञ्चुकानि वन्द्यानि कान्ताकुचमण्डलानि ॥१५॥

अन्वयः—पदानां प्रौढिप्रकर्षेण पुराणरीतिव्यतिक्रमः श्लाघ्यतमः अत्युन्नति-स्फोटितकञ्चुकानि कान्ताकुचमण्डलानि वन्द्यानि ।

व्याख्या—पदानामिति । पदानां = सुप्तिङन्तात्मनाम् शब्दानामितियावत् । प्रौढिः = रसगुणालंकारादिप्रत्यायकत्वेनचमत्कारित्वं तस्याः यः प्रकर्षः = विशेषस्तेन । पुराणरीतेः = प्राचीनपद्धतेः प्राचीनकवीनां या रीतिः परिपाटी तस्याः व्यतिक्रमः = उल्लङ्घनम् । श्लाघ्यतमः = अतिशयेन श्लाघ्यः । अत्युन्नत्या = उन्नतिविशेषेण स्फोटितानि विदारितानि कञ्चुकानि = चोलकानि यैस्तानि । 'कञ्चुको वारबाणे स्यान्निर्मोके कवचेऽपि च । वार्धापकगृहीताङ्गस्थितवस्त्रे च चोलके' इति विश्वः । काम्यन्तेस्मेतिकान्ताः [कमु = कान्तौ णिङ् , भावे क्तः 'निष्ठा' भुतार्थवृत्तेर्धातोर्निष्ठा

स्यात् 'क्तक्तवतू निष्ठा'] 'कान्ता नार्यां प्रियङ्गौ स्त्री, शोभने त्रिषु, ना धवे' लोहे च चन्द्र-सूर्यायःपर्यायान्तःशिलासु चे'ति मेदिनी ।' तासां = कामिनीनां कुचाः स्तनास्तेषां मण्डलानि = बिम्बानि-आभोगो वा । 'बिम्बोऽस्त्री मण्डलं त्रिषु' इत्यमरः । 'मण्डलं देशबिम्बयोः । भुजङ्गभेदे परिधौ शुनि द्वादशराजके' इति कोषः । वन्दितुं योग्यानि-वन्द्यानि = स्तुत्यानि । [वदि = अभिवादनस्तुत्योः । 'इदितो नुम् धातोः' इति नुम् । वदे 'ऋहलोर्ण्यत् ' इति ण्यत् ।] दृष्टान्तालंकारः ।

प्रौढिः—'वह' धातोः 'स्त्रियां क्तिन्' इति क्तिन् । 'वचिस्वपियजादीनां किति' इति सम्प्रसारणम्, 'सम्प्रसारणाच्चे'ति पूर्वरूपम्, ततो ढत्वं (ह्रोढः) धत्वं-(झषस्तथोर्धो धः) ष्टुत्वं-(स्तोः ष्टुना ष्टुः) ढलोपः (ढो ढे लोपः) दीर्घः (ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः । 'प्र + ऊढिः इति । स्थिते गुणं बाधित्वा 'प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु' इति वृद्धिः ।

प्रकर्षः—प्रपूर्वकात् 'कृष' विलेखने' इत्यस्मात् पचादित्वादच् उपसर्गबलादाधिक्यार्थः ।

रीतिः—'री' गतिरेषणयोः (क्या० प० अ०) 'स्त्रियां क्तिन्' इति क्तिन् ।' "रीतिः स्त्रियां स्यन्दप्रचारयोः' इति मेदिनी ।

व्यतिक्रमः—'क्रमु' पादविक्षेपे, अस्माद्धातो 'हलश्चे'ति घञ्, 'अत उपधाया' इति वृद्धौ प्राप्तायां 'नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः' उदात्तोपदेशस्य मकारान्तस्य आचमिवर्जितस्य चिणि ञ्णिति कृति च उपधाया अतो वृद्धिर्न स्यात् इति वृद्धिनिषेधः ।

उन्नतिः—उत्पूर्वात् 'नम्' धातोः 'स्त्रियां क्तिन्' इति क्तिनि 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति' इति मलोपः ।

स्फोटितम्—'स्फुट' विकसने ततो ण्यन्तात् क्तः, 'णेरनिटि' इति णिलोपः ।

मण्डलः—'मडि' भूषायाम् (वृषादित्वाद् उ०) कलच्, मण्डयते इति मण्डलम् ।

प्रौढिप्रकर्षेण पुराणरीतेरुल्लङ्घनोदाहरणम्—

> अस्त्यप्रतिसमाधेयं, स्तनद्वन्द्वस्य दूषणम् ।
> स्फुटतां कञ्चुकानां यन्नायात्यावरणीयताम् ॥ (८।४५)

भाषार्थः—पदों की रचना-चातुरी के उत्कर्षसे प्राचीन रीति का उल्लङ्घन भी

अतिशय सराहनीय होता है। अत्युन्नत और कठोर होने के कारण कञ्चुकियों को विदीर्ण करनेवाले तरुणियों के कुचमण्डल स्तुत्य हुआ करते हैं ॥ १५ ॥

व्युत्पत्तिरावर्जितकोविदापि न रंजनाय क्रमते जडानाम् ।
न मौक्तिकच्छिद्रकरी शलाका प्रगल्भते कर्मणि टङ्किकायाः ॥१६॥

अन्वयः—आवर्जितकोविदा अपि व्युत्पत्तिः जडानां रञ्जनाय न क्रमते, मौक्तिकच्छिद्रकरी शलाका टङ्किकायाः कर्मणि न प्रगल्भते ।

व्याख्या—आवर्जितेति । आवर्जिताः = रञ्जिताः कोविदाः = बुधा यया सा—आवर्जितकोविदा । अपि । व्युत्पत्तिः = अलौकिकरचनाकौशलम् । जडानां = साहित्य-विद्याश्रमवर्जितानाम्, अरसिकानामिति यावत् । रञ्जनाय = अनुरञ्जनाय, प्रीणनायेत्यर्थः । न क्रमते = नोत्सहते ['वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः' इत्यात्मनेपदम्] 'छिद्रं कर्तुं शीलमस्याः सा छिद्रकरी, मौक्तिकेषु छिद्रकरी—मौक्तिकच्छिद्रकरी । ['कृञ्' धातोः 'कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु' इति कारणताच्छील्याराध्यचित्तानुवर्तनेषु द्योत्येषु कर्मण्युपपदे कर्तरि 'ट' प्रत्ययः, टित्त्वात् 'टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः' इति ङीप्] शलाका = लोहशलाका । अतीवश्लाघ्यतमापि । टंकिकायाः = पाषाणभेदसाधनस्य । कर्मणि = कार्ये । न प्रगल्भते = न समर्था भवति । दृष्टान्तालङ्कारः ।

भावार्थः--जिसने विद्वानों को वश कर लिया है, ऐसी, कवि की काव्य-रचना-चातुरी भी अरसिकों का मनोरंजन करने में समर्थ नहीं होती । मोतियों में छिद्र करनेवाली श्लाघ्यतम सूक्ष्मशलाका, पत्थर फोड़नेवाली टाकी का काम करने में असमर्थ ही रहती है ॥ १६ ॥

कथासु ये लब्धरसाः कवीनां ते नानुरज्यन्ति कथान्तरेषु ।
न ग्रन्थिपर्णप्रणयाश्चरन्ति कस्तूरिकागन्धमृगास्तृणेषु ॥ १७ ॥

अन्वयः—कवीनां कथासु ये लब्धरसाः ते कथान्तरेषु न अनुरज्यन्ति । ग्रन्थिपर्णप्रणयाः कस्तूरिकागंधमृगाः तृणेषु न चरन्ति ।

व्याख्या—कवीनामिति । कवीनां = कवयितॄणां । कथासु = सरसकाव्येषु । ये = काव्यानुरागिणः । लब्धः रसो यैस्ते = लब्धरसाः = प्राप्तास्वादाः । ते = सहृदयाः । अन्याः कथा इति कथान्तराणि तेषु—कथान्तरेषु =

कुकविरचनासु । नानुरज्यन्ति = न रमन्ते । ग्रन्थिपर्णे = सुगन्धिमद्वृक्षविशेषे । प्रणयः = प्रीतिर्येषान्ते । 'ग्रन्थिपर्णं शुकं बर्हपुष्पं स्थौणेय कुक्कुरे' इत्यमरः । कस्तूरिकागन्धमृगाः = नाभिमृगाः तृणेषु = यवसेषु न चरन्ति = न भक्षयन्ति तृणानीत्यर्थः । दृष्टान्तालङ्कारः ।

भाषार्थः—सत्कवियों की काव्यकथा में जिनको रसलाभ हो चुका है, वे सहृदय, कुकवियों के काव्यों में स्नेह नहीं रखते (अनुरक्त नहीं होते) सुगन्धि वृक्ष के पर्णों में अनुराग रखनेवाले कस्तूरिका मृग, घास नहीं खाते ॥ १७ ॥

जडेषु जातप्रतिभाभिमानाः खलाः कवीन्द्रोक्तिषु के वराकाः ।
प्राप्ताग्निनिर्वापणगर्वमम्बु रत्नाङ्कुरज्योतिषि किं करोति ॥ १८ ॥

अन्वयः—जडेषु जातप्रतिभाभिमानाः खलाः कवीन्द्रोक्तिषु के वराकाः । प्राप्ताग्निनिर्वापणगर्वम् अम्बु रत्नाङ्कुरज्योतिषि किं करोति ।

व्याख्या—जडेष्विति । जडेषु-अज्ञेषु । जातः प्रतिभाऽभिमानो येषान्ते जातप्रतिभाभिमानाः=प्रतिभावन्त इति प्राप्ताभिमानाः । 'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता' इति रुद्रः । बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया मतिरागामिगोचरा । प्रज्ञां नवनवोन्मेषशालिनीं प्रतिभां विदुः ॥ खलाः = क्षुद्राः कवयः । कवीन्द्रोक्तिषु = सभासु प्रवर्त्तमानासु प्रतिस्पर्धिनीषु वा । के वराकाः ? = न केपीत्यर्थः । ते मौनमेवावलम्बन्त इति भावः पराजिता एव भवन्तीति वा । तथा चोक्तं केनचित्कविना—'सद्भिर्भाव्ये हिते काव्ये वृथा दुर्जनगर्जनम् । चण्डीशाङ्गीकृते चन्द्रेऽरुन्तुदः किं विधुन्तुदः ॥' अथवा, कवीन्द्रोक्तिप्रतिस्पर्धिरचनायामप्रभव एव ते भवन्ति । प्राप्तः अग्निनिर्वापणस्य गर्वो येन तत्-प्राप्ताग्निनिर्वापणगर्वम् = लब्धाग्निशमनाहङ्कारम् । अम्बु = जलम् । रत्नाङ्कुरज्योतिषि = रत्नकिरणप्रकाशे । किं करोति = न किमपि, वैफल्यमेव भजत इति यावत् । जलेन वह्निः शाम्यते न पुनर्मणीनाम्प्रकाश इत्यर्थः । दृष्टान्तालङ्कारः । किं करोति न किमपि कर्तुं शक्नोतीत्यर्थाक्षेपात् अर्थापत्तिरलङ्कारश्च ।

भाषार्थः—मूर्खों में (रहने के कारण) जिनको अपनी प्रतिभा का अभिमान हुआ है ऐसे क्षुद्र कवि, महाकवियों की सभा में अथवा जहां उनकी प्रतिस्पर्धा हो रही है वहां किस गिनती में हैं ? अग्नि को शान्त करने से जिसे अहंकार उत्पन्न हुआ है ऐसा जल, रत्नांकुरों के प्रकाश पर क्या कर सकता है ? जल अग्नि को बुझा सकता है परन्तु रत्नों के प्रकाश को नहीं ॥ १८ ॥

उल्लेखलीलाघटनापटूनां सचेतसां वैकटिकोपमानाम् ।
विचारशाणोपलपट्टिकासु मत्सूक्तिरत्नान्यतिथीभवन्तु ॥ १९ ॥

अन्वयः—मत्सूक्तिरत्नानि उल्लेखलीलाघटनापटूनां सचेतसां वैकटिकोपमानां-विचारशाणोपलपट्टिकासु अतिथीभवन्तु ।

व्याख्या—मत्सूक्तिरिति । मम सूक्तयस्ता एव रत्नानि-मत्सूक्तिरत्नानि= मत्काव्यमणयः। उल्लेखस्य = अभिप्रायस्य, अन्यत्रोल्लिखनस्य गुणपरीक्षणस्य समालोचनस्य वा, लीलया या घटना = रचना, अन्यत्र शाणोत्कर्षणेनोज्ज्वलीकरणम् । तत्र ये पटवः = कुशलास्तेषाम् । सचेतसां = सहृदयानाम् । वैकटिकः = रत्नपरीक्षक उपमा = सादृश्यं येषान्तेषाम् । वैकटिकोपमानां = विवेचकानां सहृदयानाम् । विचारा एव शाणोपलपट्टिकास्तासु । अतिथीभवन्तु = आगन्तुकीभवन्तु । विवेचकाः सहृदया मत्सूक्तीर्विचारयन्त्विति तात्पर्यम् ॥ वैकटिकेन सहृदयस्य सादृश्यप्रतीत्या, उपमालङ्कारः विचारेषु शाणोपलपट्टिकारोपात् रूपकालङ्कारश्च ।

भाषार्थः—रत्नोल्लेखन में चतुर, रत्नपरीक्षकों के समान सहृदय विवेचकों के विचार की कसौटी पर रत्न की सदृश मेरी सदुक्तियां उल्लिखित हों । भाव यह है कि जिस प्रकार रत्नपरीक्षक रत्नों को शाण पर चढाकर उन्हें तासते हैं और उनके स्वरूप को निखारते हैं उसी प्रकार मेरी सदुक्तियों को भी सहृदय समालोचक अपनी विवेक-शाण पर रखकर उनके स्वरूप को स्पष्ट करें ॥ १९ ॥

न दुर्जनानामिह कोऽपि दोषस्तेषां स्वभावो हि गुणासहिष्णुः ।
द्वेष्यैव केषामपि चन्द्रखण्ड-विपाण्डुरा पुण्ड्रकशर्करापि ॥ २० ॥

अन्वयः—इह दुर्जनानां कोऽपि दोषो न, हि गुणासहिष्णुः तेषां स्वभावः । चन्द्रखण्डविपाण्डुरा पुण्ड्रकशर्करा अपि केषामपि द्वेष्या एव ।

व्याख्या—इहेति । इह =काव्यगुणग्रहणे । दुर्जनानां = खलानां 'पिशुनो-दुर्जनः खलः' इत्यमरः । दुष्टो जनो दुर्जन इति 'कुगतिप्रादय' इति समासः । कोऽपि = कश्चन । दोषो न = अवगुणो नास्ति । ['दुष' वैकृत्ये ततः 'पचाद्यच्' इति अच् प्रत्ययः] हि = यस्मात् । गुणासहिष्णुः-गुणानां = परेषां गुणानाम् असहिष्णुः = असहनशीलः तेषां = क्षुद्राणां । स्वभावः = प्रकृतिः, परगुणे दोषाविष्करणं खलानां शीलमेवेत्यर्थः । चन्द्रखण्ड इव = सुधाकरशकल इव, विशेषेण पाण्डुरा-विपाण्डुरा =

अतिश्वेतापि (उपमानपूर्वपदकर्मधारयः) पुण्ड्रकशर्करा अतिरसस्येक्षोः शर्करा = सिता । 'पुण्ड्रे क्षौ पुण्ड्रकः सेव्यः पौण्ड्रकोऽतिरसो मधुरि'ति वाचस्पतिः । केषामपि = पित्तरोगिणाम् । द्वेष्यैव = अप्रियैव भवति । 'पित्तेन दूने रसने सितापि तिक्तायते मानसराजहंस' इति श्रीहर्षः । असहिष्णुः—[षह मर्षणे, इत्यस्मात् 'अलङ्कृञ्निराकृञ्प्रजनोत्पचोत्पतोन्मदरुच्यपत्रपवृतुवृधुसहचर इष्णुच्' इति कर्तरि ताच्छील्ये 'इष्णुच्' प्रत्ययः] द्वेष्टुं योग्या-द्वेष्या-'द्विष' धातो 'ऋहलोर्ण्यत्' इति 'ण्यत्' प्रत्ययः, 'पुगन्तलघूपधस्यचे'ति गुणः । पाण्डुत्वमस्यास्तीति पाण्डुरा 'नगपांसुपाण्डुभ्यो रः' इति पाण्डुशब्दाद् 'र' प्रत्ययः । 'सितमवसिते च बद्धे धवले त्रिषु शर्करायां स्त्री' इति मेदिनी । दृष्टान्तालङ्कारः ।

भावार्थः—सत्कवियों के काव्य का अनादर करने में दुष्ट लोगों का कोई दोष नहीं है, क्योंकि ऐसा करना तो उनका स्वभाव है । चन्द्रखण्ड के समान अत्यन्त श्वेत तथा पुण्ड्रक इक्षु (गन्ना) से पैदा हुई अत्यन्त मधुर शर्करा भी कुछ लोगों के (पित्त के रोगियों के) लिये द्वेष्य ही होती है ॥ २० ॥

सहोदराः कुङ्कुमकेसराणां भवन्ति नूनं कविताविलासाः ।
न शारदादेशमपास्य दृष्टस्तेषां यदन्यत्र मया प्ररोहः ॥ २१ ॥

अन्वयः—नूनं कविताविलासाः कुङ्कुमकेसराणां सहोदराः भवन्ति, यत शारदादेशम् अपास्य अन्यत्र मया तेषां प्ररोहः न दृष्टः ।

व्याख्या—नूनमिति । नूनं = निश्चयेन । 'नूनमवश्यं निश्चये द्वयम्' इत्यमरः । कविताविलासाः = कविकृतिलीलालालित्यम् । कुङ्कुमस्य = काश्मीरजन्मनः, केसराः = किञ्जल्कास्तेषाम् । सहोदरेण वर्तन्त इति सहोदराः, 'भ्राता तु स्यात्सहोदरः समानोदर्य-सोदर्य-सगर्भ्य-सहजा अपि, सोदरश्चे'ति नाममाला । एकदेशजत्वाद् भ्रातरो भवन्ति । यत् = यतः । शारदायाः = सरस्वत्याः, आदेशः = आज्ञा, प्रसाद इति यावत् । अन्यत्र-शारदादेशः = काश्मीरदेशः—तम्, अपास्य = मुक्त्वा अन्यत्र स्थाने । मया = विल्हणकविना । तेषां = कविताविलासानां, कुङ्कुमकेसराणां च । प्ररोहः = अभिनवोद्गमः । ['प्रपूर्वात् 'रुह' बीजजन्मनि प्रादुर्भावे चेत्यस्माद् 'हलश्चे'ति घञ्] न दृष्टः = नावलोकितः । शारदाप्रसादमन्तरेण न कविताविलासोद्गमः । काश्मीरदेशंविहाय नान्यत्र कुङ्कुमकेसरोद्गमः इत्यभिप्रायः ।

भावार्थः—निश्चय से ही काव्यकला के विलास, केशरकिञ्जल्कों के सहोदर भ्राता हैं, क्योंकि सरस्वती की आज्ञा के विना (सरस्वती = वाग्देवता के देश = काश्मीर के विना) दूसरे किसी स्थान में मैंने केसरों का (काश्मीर में ही केशर की उत्पत्ति होती है) तथा काव्यार्थ भावना परिपाक का अंकुर अन्यत्र नहीं देखा ॥ २१ ॥

रसध्वनेरध्वनि ये चरन्ति सङ्क्रान्तवक्रोक्तिरहस्यमुद्राः ।
तेऽस्मत्प्रबन्धानवधारयन्तु कुर्वन्तु शेषाः शुकवाक्यपाठम् ॥२२॥

अन्वयः—सङ्क्रान्तवक्रोक्तिरहस्यमुद्राः ये रसध्वनेः अध्वनि चरन्ति ते अस्मत्प्रबन्धान् अवधारयन्तु, शेषाः शुकवाक्यपाठं कुर्वन्तु ।

व्याख्या—सङ्क्रान्ता = प्रतिफलिता = श्रोतॄणां हृदयान्तःप्रविष्टा, वक्रोक्तेः = 'वक्त्राऽन्याभिप्रायेणोक्तस्यान्येनान्यार्थकतया योजितस्य' वाक्यस्य यद् रहस्यं तस्य मुद्रा = लक्षणं येषु ते, यद्वा सङ्क्रान्तवक्रोक्तिरहस्यमेव मुद्रा येषु ते सङ्क्रान्तवक्रोक्तिरहस्यमुद्राः । 'मुद्रा प्रत्ययकारिणी' 'यथा नामाक्षरमुद्रणमुद्रा द्रवीभूते लाक्षादिरसे मुद्रिता भवति, एवं सहृदयान्तःप्रदेशे वक्रोक्तिरहस्यं प्रतिफलति । एवंभूता ये काव्यार्थरहस्यवेदिनः । रसस्य यो ध्वनिः = व्यंजनाव्यापारस्तस्य । अध्वनि = मार्गे । (ये सहृदयाः) चरन्ति ते सहृदया विवेचकाः । अस्माकं प्रबन्धास्तान् अस्मत्प्रबन्धान् । अवधारयन्तु = तदर्थनिर्णयं कुर्वन्तु । शेषाः = तदन्ये स्वमुखसुखार्थं शुकवाक्यपाठं कुर्वन्तु । यथा शुकाः केवलान् शब्दान् पठन्ति, तन्मुखशब्दश्रवणेन चार्थज्ञाः प्रसीदन्ति, परं पाठकस्य शुकस्य न कश्चिल्लाभस्तथैव लोके स्वमाहात्म्यप्रकाशनायाज्ञा अपि पठन्तु, परन्ततः सहृदयानामेव सुखं भवेत् जडास्तु भारवाहका एव । काव्यार्थभावनापरिपक्वबुद्धिविभवमात्रवेद्यमेतत् काव्यतत्त्वमिति भावः । रसो हि—'विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः । आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायीभावो रसः स्मृतः' ॥ 'नानाद्रव्यौषधैः पाकैर्व्यञ्जनं भाव्यते यथा । एवं भावा भावयन्ति रसानभिनयैः सदा । इति वासुकिनाप्युक्तो भावेभ्यो रससम्भवः ॥' विभावानुभावव्यभिचारिसात्त्विकैः काव्योपात्तैः रत्यादिस्थायी भावः श्रोतॄणामन्तःपरिवर्तमानः स्वादगोचरतां = निर्भरानन्दसंविदात्मतामानीयमानो रसः । अयमभिसंधिः काव्ये हि विभावादिभिर्व्यज्यते स्थायी । तस्याश्चाभिव्यक्तौ अन्तःकरणवृत्तिरूपायां चैतन्यानन्दस्वरूप आत्मापि

भासते। वेदान्तिनये—सर्वस्मिन्नेव ज्ञाने आत्मभानस्यैयत्यात्। आत्मनो योग-घटिताया आत्मभानसामग्र्याः सत्त्वात्। सर्वस्यैव कल्पितत्वेन रंगे रजतमित्य-त्रैवात्मचैतन्यरूपाधिष्ठानानुबोधसंभवाच्च। अज्ञातस्यात्मनो भानं विना प्रत्यक्षादीनां प्रामाण्यानुपपत्तेश्च। तथाहि—'अज्ञातज्ञापकत्वं हि प्रामाण्यम्'। अज्ञानविषयश्चा-त्मैव। तथा चात्मा चेन्न भासेत, कथं तेषाम्प्रामाण्यमिति। तथाच काव्यदर्शन-श्रवणमहिम्नोक्तयाऽभिव्यक्त्या चैतन्यस्यानंदांशे आवरणभंगोऽपि क्रियते। तथा च—रत्याद्यवच्छिन्नं चैतन्यमानन्दांशे भग्नावरणतया आनन्दरूपतया प्रकाशमानं रसः, 'रसो वै स' इति श्रुतेः।

भाषार्थः—जो वक्रोक्तिरहस्य के ज्ञाता रसध्वनि के पथिक हैं वे हमारे काव्यों को विचारें और जिनका ऐसा अधिकार नहीं है, वे शुक के समान केवल काव्य पाठ ही करें।

यहां पर कवि ने अपने काव्य को बहुत ऊंचा बताया है और 'अस्म-त्प्रबन्धान्' यहां अस्मत्प्रयोग के द्वारा अपने गुरुत्व को भी व्यक्त किया है। रस-ध्वनि वक्रोक्ति आदि काव्यतत्त्वों से अपरिचित लोगों में इस काव्य के समझने की योग्यता नहीं है, यह स्पष्ट बताया है॥ २२॥

अनन्यसामान्यगुणत्वमेव भवत्यनर्थाय महाकवीनाम्।
ज्ञातुं यदेषां सुलभाः सभासु न जल्पमल्पप्रतिभाः क्षमन्ते॥२३॥

अन्वयः—अनन्यसामान्यगुणत्वं महाकवीनाम् अनर्थाय एव भवति यत् सभासु सुलभाः अल्पप्रतिभाः एषां जल्पं ज्ञातुं न क्षमन्ते।

व्याख्या—अनन्येति। अनन्यसामान्यगुणत्वम् = असाधारणगुणवत्त्वम्। महाकवीनां = महाप्रबन्धकर्तॄणाम्। अनर्थाय = फलाभावाय एव भवति। यत् = यस्माद्धेतोः। सभा = सुविद्वद्गोष्ठीषु, राजसंसत्सु वा सुलभाः। अल्पा = स्वल्पार्थ-प्राहिणी, प्रतिभा = बुद्धिर्येषान्ते जडा इत्यर्थः। एषां = महाकवीनां। जल्पं = कथनं। ज्ञातुं = बोद्धुम्। न क्षमन्ते = न प्रभवन्ति। लोके विद्वांसो विरला भवन्ति ते च सभासु दुर्लभास्तत्रापि राजसभासु गुणज्ञा विरला एव सुलभाश्चेतरे। 'तत्त्व किमपि काव्यानां जानाति विरलो भुवि। मार्मिकः को मरन्दानामन्तरे-मधुव्रतम्।'

भावार्थः—महाकवियों का अलौकिक गुण अनर्थ का ही कारण बनता है

क्योंकि प्रभाओं में अपरिपक्व बुद्धि के ही बहुत से लोग होते हैं, वे इन महाकवियों के कथन को समझने में असमर्थ रहते हैं, अतः महाकवियों का जैसा आदर होना चाहिये वैसा नहीं हो पाता ॥ २४ ॥

अलौकिकोल्लेखसमर्पणेन विदग्धचेतः-कषपट्टिकासु ।
परीक्षितं काव्य-सुवर्णमेतल्लोकस्य कण्ठाभरणत्वमेतु ॥ २५ ॥

अन्वयः—एतत् काव्यसुवर्णं विदग्धचेतः कषपट्टिकासु अलौकिकोल्लेखसमर्पणेन परीक्षितं लोकस्य कण्ठाभरणत्वम् एतु ।

व्याख्या—एतदिति । एतत् = बुद्धिस्थं । काव्यमेव सुवर्णं—काव्यसुवर्णम् । विदग्धानां = सहृदयानां, चेतांसि एव कषपट्टिकास्तासु = हेमघर्षणशिलासु । अलौकिकम् = असाधारणं, यदुल्लेखसमर्पणं = चमत्कारविधानम्, अन्यत्र—सुवर्णस्य श्रेष्ठतासूचकरेखाकरणं—तेन । परीक्षितं = निर्णीतम् । लोकस्य = काव्यपीयूषलम्पटस्य जनस्य कण्ठाभरणत्वं = कण्ठभूषणत्वम् । एतु = प्राप्नोतु । [परीक्षा संजाताऽस्येति परीक्षितम्—परीक्षा + इतच्] काव्ये सुवर्णाऽभेदारोपस्य, विदग्धचेतःसु कषपट्टिकारोपे कारणत्वात् परम्परितरूपकम् । 'यत्र कस्यचिदारोपः परारोपणकारणम् तत्परम्परितम् ।'

भावार्थः—यह काव्यरूपी सुवर्ण सहृदयों के अन्तःकरणरूपी कसौटियों पर अलौकिक चमत्कारों के समर्पण से परीक्षित है । यह लोगों के कण्ठ का आभूषण बने ॥ २४ ॥

किं चारुचारित्रविचारशून्याः कुर्वन्ति भूपाः कविसंग्रहेण ।
किं जातु गुञ्जाफलभूषणानां सुवर्णकारेण वनेचराणाम् ॥ २५ ॥

अन्वयः—चारुचारित्रविचारशून्याः भूपाः कविसंग्रहेण किं कुर्वन्ति, गुञ्जाफलभूषणानां वनेचराणां जातु सुवर्णकारेण किम् ।

व्याख्या—चारुचारित्रेति । चारु = सुन्दरं, 'सुन्दरं रुचिरं चारु सुषमं साधुशोभनम्' इत्यमरः । ['चरति चित्ते' इति चारु—'चर' गतौ, ततो 'दृसनिजनिचरिचटिभ्यो ञुण्' इति ञुण्, 'अत उपधायाः' इति वृद्धिः] यच्चारित्रं = शीलं, 'निष्ठा च शीलं चारित्रं चारत्रं चरितं तथा' इति रत्नकोशः । तस्य विचारः = विचारणं = चिन्तनं, [वि + चर् = घञ् 'हलश्च'] तेन शून्याः = तुच्छाः, 'शून्यन्तु वशिकं तुच्छरिक्तके'

इत्यमरः। [शुने हितं 'शुनः संप्रसारणं वा च दीर्घः' इति यत्] भुवं पान्ति-ते-भूपाः = राजानः, ['पा' रक्षणे तत 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कः, 'आतो लोप इटि चे'त्याकारलोपः] 'राजा राट् पार्थिवक्ष्माभृन्नृपभूपमहीक्षितः' इत्यमरः। कविसंग्रहेण = काव्यकाराणां 'कविर्वाल्मीकिकाव्ययोः', सूरौ काव्यकरे पुंसि स्यात् खलीने तु योषिति' इति मेदिनी। संग्रहेण = संचयेन, ['ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च' इति अप्, घञपवादः] किं कुर्वन्ति = न किमपि। अत्र दृष्टान्तमाह—गुञ्जाफलानि = कृष्णला एव, 'काकचिञ्चागुञ्जे तु कृष्णला' इत्यमरः। भूषणानि = अलंकारा येषान्तेषां वनेचराणां = वनौकसाम्। ['वने' इति अधिकरणे उपपदे 'चरेष्ट' इति 'टः'] जातु = कस्मिंश्चित्काले 'कदाचिज्जातु' इत्यमरः। सुवर्णकारेण = सुवर्णालंकारघटकेन। किं = न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः। अलंकाररुचय एवं दिव्यचरिता एव भूपतयः कवीनामाश्रया भवन्ति, अलंकाररुचय ऐश्वर्यशालिन एव सुवर्णकारान् रक्षन्ति। 'नग्नकानां हि वसतौ रजकः किं करिष्यति' इति वत्। दृष्टान्तालङ्कारः।

भावार्थः—चरित्रहीन राजा लोगों को महाकवियों के संग्रह करने से क्या प्रयोजन? गुंजाफलों के आभूषण धारण करने वाले वनेचरोंको सुवर्णकारों से क्या प्रयोजन? अर्थात् जो जिसके मूल्य को या आवश्यकता को समझता है वही उसका संग्रह भी करता है॥ २५॥

पृथ्वीपतेः सन्ति न यस्य पार्श्वे कवीश्वरास्तस्य कुतो यशांसि।
भूपाः कियन्तो न बभूवुरुर्व्यां जानाति नामापि न कोऽपि तेषाम्॥२६॥

अन्वयः—यस्य पृथ्वीपतेः पार्श्वे कवीश्वराः न सन्ति (तस्य) यशांसि कुतः, उर्व्यां कियन्तो भूपाः न बभूवुः, कोऽपि तेषां नामापि न जानाति।

व्याख्या—यस्येति। यस्य पृथ्वीपतेः = यस्य भूपालस्य। पार्श्वे = सविधे। कवीश्वराः = कवीन्द्राः। न वसन्ति। तस्य चरित्रशालिनः शूरस्यापि राज्ञो, यशांसि = कीर्तयः कुतः? उर्व्यां = विशालायां भूमौ। कियन्तः = कियत्संख्याकाः। भूपाः = राजानः। न बभूवुः = नोत्पन्नाः बहवः समुत्पन्ना इत्यर्थः। कोऽपि = कश्चिदपि। तेषां = पुराजातानां चरित्रवतां विक्रान्तानां। नामापि न जानाति = नाममात्रेणापि ते परिचिता न भवन्ति। अतः कीर्तिप्रियेण नृपेण महाकवयः संग्राह्याः। राज्ञां यशसोऽपयशसो वा कवीश्वरा एव निदानम्। तथा चोक्तं राजतरङ्गिणीकृता कविवरेण कल्हणेन—

भुजवनतरुच्छायां येषां निषेव्यमहौजसां
जलधिरशनामेदिन्यासीदसावकुतोभया ।
स्मृतिमपि न ते यान्ति क्ष्मापा विना यदनुग्रहं
प्रकृतिमहते कुर्मस्तस्मै नमः कविकर्मणे ॥

भाषार्थः—जिस राजा के समीप महाकवि नहीं होते, उस राजा के यश को लोग कैसे जान सकते हैं ? इस विशाल भूमण्डल में कितने ही राजा हुए परन्तु उनका नाम भी कोई नहीं जानता ॥ २६ ॥

लंकापतेः संकुचितं यशो यद् यत् कीर्तिपात्रं रघुराजपुत्रः ।
स सर्व एवादिकवेः प्रभावो न कोपनीयाः कवयः क्षितीन्द्रैः ॥ २७ ॥

अन्वयः—यत् लंकापतेः यशः संकुचितं, यत् कीर्तिपात्रं रघुराजपुत्रः (अस्ति) सः सर्वः आदिकवेः एव प्रभावः, क्षितीन्द्रैः कवयः न कोपनीयाः ।

व्याख्या—यदिति । यत् , लङ्कापतेः=रावणस्य । यशः=कीर्तिः । 'यशः कीर्तिः समज्ञा चे'त्यमरः । संकुचितम् = अपकृष्टम् । यत् कीर्तिपात्रं = यशोभाजनम् रघुराजपुत्रः = राघवो रामः । स सर्वः । आदिकवेः = वाल्मीकेरेव । प्रभावः = माहात्म्यम् । क्षितीन्द्रैः = भूपालैः । कवयः = काव्यकर्तारः । न कोपनीयाः = न तिरस्करणीयाः, आदरणीया इत्यर्थः ।

भाषार्थ—लंकापति रावण का यश घट गया, और राघवेन्द्र राम का यश इतना बढ़ गया, यह सब आदिकवि वाल्मीकिजी का ही प्रभाव है, अतः राजा लोग कवियों का तिरस्कार कदापि न करें ॥ २७ ॥

गिरां प्रवृत्तिर्मम नीरसापि मान्या भवित्री नृपतेश्चरित्रैः ।
के वा न शुष्कां मृदमभ्रसिन्धुसम्बन्धिनीं मूर्धनि धारयन्ति ॥ २८ ॥

अन्वयः—मम नीरसापि गिरां प्रवृत्तिः नृपतेः चरित्रैः मान्या भवित्री, के वा अभ्रसिन्धुसम्बन्धिनीं शुष्कां मृदं मूर्ध्नि न धारयन्ति ।

व्याख्या—ममेति । मम=कवेर्बिल्हणस्य । निर्गतो रसो यस्याः सा-नीरसा= रसहीनाऽपि । गिरां = वाचां प्रवृत्तिः=व्यापारः । नृपतेः=राज्ञो विक्रमाङ्कदेवस्य चरित्रैः=चरितैः । ['चर्' धातोः 'अर्तिलूधूसूखनसहचर इत्रः' इति 'इत्र' प्रत्ययः] मन्तुं योग्या मान्या = सत्कारार्हा । ['मन्' धातोः 'ऋहलोर्ण्यत्' इति ण्यत् ,

'अत उपधायाः' इति उपधावृद्धिः ।] भवित्री=भवनशीला । ['भू' धातोस्ताच्छील्यार्थे 'तृन्' प्रत्ययः, 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' इति ङीप्] 'भूष्णुर्भविष्णुर्भविता' इत्यमरः । के वा = सर्वे इत्यर्थः । अभ्रसिन्धुः=मन्दाकिनी, तत्सम्बन्धिनीम् गाङ्गां = सुरसरितः संबन्धिनीत्यर्थः । शुष्कां = नीरसाम् । 'शुष्' धातोः 'निष्ठे'ति 'क्त' प्रत्ययस्तस्य-स्थाने 'शुषः कः' इति 'क' आदेशः] मृदं=मृत्तिकाम् । मूर्ध्नि=शिरसि न धारयन्ति=न वहन्ति । 'गंगामृदं सर्वे मूर्ध्ना धारयन्ति, नायं शुष्काया मृदः प्रभावः परं गंगाया माहात्म्यमिदमेवं हि चरित्रशालिनो विक्रमाङ्कस्य च चरितसम्बन्धिनीं नीरसामपि मम वाचं के वा नादरेण शृणुयुः ? । अत्र दृष्टान्तालङ्कारः । अन्य-सम्बन्धेन श्लाघ्यत्वकथनात् उदात्तालङ्कारश्च । 'लोकातिशय-सम्पत्तिवर्णनोदात्त-मुच्यते । यद्वापि प्रस्तुतस्याङ्गं महतां चरितं भवेत् ॥'

भाषार्थः—मेरी वाणी नीरस होने पर भी, दिव्यचरित्र राजाओं के चरित्र वर्णन में व्याप्त होने के कारण अवश्य ही सबके आदरयोग्य होगी । कौन ऐसा मनुष्य है जो, मृत्तिका के शुष्क रहने पर भी, 'गंगाजी की वह है' ऐसा समझकर उसे अपने सिर माथे नहीं लगाता ? अर्थात् सिर माथे उसे धारण कर अवश्य ही आदर करता है ॥ २८ ॥

कर्णामृतं सूक्तिरसं विमुच्य दोषे प्रयत्नः सुमहान् खलानाम् ।
निरीक्षते केलिवनं प्रविश्य क्रमेलकः कण्टकजालमेव ॥ २९ ॥

अन्वयः—कर्णामृतं सूक्तिरसं विमुच्य खलानां दोषे सुमहान् प्रयत्नः । क्रमेलकः केलिवनं प्रविश्य कण्टकजालमेव निरीक्षते ।

व्याख्या—कर्णामृतमिति । कर्णामृतं=श्रवणयोः सुधावदानन्ददायि । सूक्ति-रसं = सुभाषितरसं । विमुच्य = परित्यज्य । खलानां=क्षुद्राणां दोषे=दोषस्यैवा-न्वेषणे । सुमहान्=अतिशयितः । प्रयत्नः=हठः । क्रमेलकः=उष्ट्रः । केलिवनम्=आरामं, प्रमदाक्रीडोद्यानमिति यावत् । प्रविश्य = गत्वा । कण्टकजालमेव = कण्टकप्रचुरवृक्षसमूहं । निरीक्षते=अवलोकयति । तथा चोक्तं जीवनायकेन—

कुमुदशबलैः फुल्लाम्भोजैः सरोभिरलङ्कृतां
मरकतमणिश्यामां शष्पैर्विहाय वनस्थलीम् ।
स्मरति करभो यद् वृक्षाणां चरन्मरुधन्वनां
परिचयरतिः सा दुर्वारा न सा गुणवैरिता ॥

दृष्टान्तालङ्कारः ।

भाषार्थः—काव्यमें श्रोत्रसुखद, सूक्तिरस को छोड़, दोषान्वेषण में ही दुष्टों का प्रयत्न हुआ करता है। ऊँट, क्रीडोद्यान में जाकर भी काँटों को ही खोजता है ॥ २९ ॥

एषास्तु चालुक्यनरेन्द्रवंशसमुद्गतानां गुणमौक्तिकानाम् ।
मद्-भारतीसूत्रनिवेशितानामेकावली कण्ठविभूषणं वः ॥ ३० ॥

अन्वयः—चालुक्यनरेन्द्रवंशसमुद्गतानां गुणमौक्तिकानां मद्भारतीसूत्र-निवेशितानाम् एषा एकावली वः कण्ठविभूषणम् अस्तु ।

व्याख्या—चालुक्यनरेन्द्रस्य, वंशात् = कुलात् , समुद्गतानां = समुत्पन्नानाम् , अथ च वेणुसमुत्पन्नानाम् , 'वंशः = कुलं वेणुश्चेति', 'शुक्तिः शंखो गजः क्रोडः फणीमत्स्यश्च दर्दुरः । वेणुश्चाष्टौ समाख्याता बुधैर्मौक्तिकयोनयः ।' 'मुक्ताः सन्ति कुलाचलेषु करकाः कान्त्युद्भवा वंशजाः, कर्कन्धू फलबन्धवो निदधते कण्ठेषु शुद्धाङ्गनाः' इत्युक्तमाकरेषु । गुणा एव मौक्तिकानि-तेषां-गुणमौक्तिकानां, [मुक्ता एव मौक्तिकानि, मुक्ताशब्दाद् 'विनयादिभ्यष्ठक्' इति 'ठक्' प्रत्ययः, 'किति चे'ति वृद्धिः] मम विल्हणस्य कवेः, भारती = वाणी [मम भारती= मद्भारती 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्चे'ति अस्मच्छब्दस्य मपर्यन्तस्यैकार्थवाचिनो 'म' आदेशः] सैव सूत्रं तत्र निवेशितानां = गुम्फितानाम् । एषा बुद्धिस्थेति यावत् । एकावली = एकावृतो हारः । वः = युष्माकं सहृदयानाम् । कण्ठभूषणं=कण्ठालङ्कारः । अस्तु=भूयात् । अत्र गुणेषु मौक्तिकारोपे, वंशे वेणुत्वारोपस्य कारणत्वात् परम्परितं रूपकम् । वाक्यावल्यामेकावल्यारोपे भारत्यां सूत्रत्वारोपस्य कारणत्वाच्च परम्परितं रूपकम् । यथाह मम्मटः—'नियतारोपणोपायः स्यादारोपः परस्य यः । तत् परम्परितं श्लिष्टे वाचके भेदभाजि वा ।'

भाषार्थः—चालुक्यनरेन्द्र के कुल में उत्पन्न हुए गुणरूपी मोतियों की एकावली, जो मेरी वाणीरूपी सूत्र में गुथी हुई है, वह तुम्हारे कण्ठ के लिये आभूषण बने जैसे कुलाचल पर्वतपर वेणु (बांस) से उत्पन्न हुए बेरों के सदृश मोती, रमणियों के कण्ठाभूषण होते हैं। यह अर्थ 'वंश' शब्द के श्लेष से कवि ने प्रकट किया है ॥ ३० ॥

साम्प्रतं चालुक्यकुलमूलपुरुषोत्पत्तिं प्रस्तौति—

लोकेषु सप्तस्वपि विश्रुतोऽसौ सरस्वतीविभ्रमभूः स्वयंभूः ।
चत्वारि काव्यानि चतुर्मुखस्य यस्य प्रसिद्धाः श्रुतयश्चतस्रः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—असौ सप्तसु अपि लोकेषु विश्रुतः सरस्वतीविभ्रमभूः स्वयम्भूः अस्ति, यस्य चतुर्मुखस्य चत्वारि काव्यानि चतस्रः श्रुतयः प्रसिद्धाः सन्ति ।

व्याख्या—असाविति । असौ=अयं । सप्तसु=सप्तसंख्याकेषु । अपि लोकेषु= भूरादिलोकेषु विश्रुतः=प्रसिद्धः । [वि+श्रु+क्त, 'श्रु' श्रवणे ततः क्तः] 'प्रतीते प्रथितख्यातवित्तविज्ञातविश्रुताः' इत्यमरः । सरस्वतीविभ्रमभूः = सरस्वतीविलासस्थानम्=स्वयमात्मना भवतीति=स्वयंभूः=ब्रह्मदेवः ['भुवः संज्ञान्तरयोः' इति भूधातोः क्विप् प्रत्ययः] अस्ति । यस्य चतुर्मुखस्य= [चत्वारि=चतुःसंख्याकानि मुखानि यस्येति बहुव्रीहिः] ब्रह्मणः, आदिकवे-रित्यर्थः । चत्वारि काव्यानि । चतस्रः=चतुःसंख्याकाः श्रुतयः=ऋगादयो वेदाः । प्रसिद्धाः=विदिताः सन्ति ।

भाषार्थः—भूरादि सातों लोकों में प्रसिद्ध, सरस्वती के विलास का स्थान, यह ब्रह्मदेव है, जिसके चारों मुखों से प्रकट हुए चार काव्य, चार वेदों के नाम से प्रसिद्ध हैं ।

एकस्य सेवातिशयेन शङ्के पङ्केरुहस्यासनतां गतस्य ।
आराधितो यः सकलं कुटुम्बं चकार लक्ष्मीपदमम्बुजानाम् ॥३२॥

अन्वयः—आसनतां गतस्य एकस्य पङ्केरुहस्य सेवातिशयेन आराधितः यः अम्बुजानां सकलं कुटुम्बं लक्ष्मीपदं चकार (इति) शङ्के ।

व्याख्या—आसनतामिति । आसनस्य भावः, आसनता–ताम् ['तस्य भाव-स्त्वतलौ' इति 'तल्' प्रत्ययः, तलन्तं स्त्रियाम्] आसनतां = पीठताम् । गतस्य = प्राप्तस्य । एकस्य पङ्केरुहस्य = तामरसस्य, कमलस्येति यावत् । [पङ्के रोहतीति-पङ्केरुहम् , 'रुह' प्रादुर्भावे तत 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इति कप्रत्ययः, 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति सप्तम्या अलुक्] 'पङ्केरुहं तामरसमि'त्यमरः । सेवायां अतिशयस्तेन–सेवातिशयेन = परिचर्याधिक्येन । आराधितः = सेवितः । यश्चतु-र्मुखः । अम्बुनि जातानि–अम्बुजानि, तेषाम्–अम्बुजानां = कमलानाम् ।

'जनी' प्रादुर्भावे 'सप्तम्यां जनेर्डः' इति 'ड' प्रत्ययः। 'उपपदमतिङ्' इत्युपपद-समासः। 'तत्पुरुषे कृति बहुलमित्यलुगभावपक्षे 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति सप्तम्या लुक्] सकलं = सम्पूर्णम्। कुटुम्बं = परिवारं। लक्ष्म्याः पदं-लक्ष्मीपदं = लक्ष्म्याश्रयं शोभाश्रयमिति यावत्। 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः। चकार = विदधे। इति = एवं। शङ्के इत्युत्प्रेक्षायाम्। उत्प्रेक्षालङ्कारः।

भाषार्थः—एक कमल ने स्वयं आसन बनकर चतुर्मुख ब्रह्मदेव की जो अधिक सेवा की मानो उसी के परिणामस्वरूप कमल के समस्त परिवार को जिस (ब्रह्मदेव) ने लक्ष्मी का आश्रयस्थान बना दिया ॥ ३२ ॥

ब्रह्मर्षिभिर्ब्रह्ममयीममुष्य सार्धं कथां वर्धयतः कदाचित्।
त्रैलोक्यबन्धोः सुरसिन्धुतीरे प्रत्यूष-सन्ध्यासमयो बभूव ॥ ३३ ॥

अन्वयः—कदाचित् सुरसिन्धुतीरे ब्रह्मर्षिभिः सार्धं ब्रह्ममयीं कथां वर्धयतः अमुष्य त्रैलोक्यबन्धोः प्रत्यूष-सन्ध्या-समयः बभूव।

व्याख्या—कदाचिदिति। कदाचित् = कस्मिंश्चित्समये। सुराणां = देवानां, सिन्धुः = नदी, तस्यास्तीरे-सुरसिन्धुतीरे = देवनद्या वियद्गंगाया इति यावत् कूले। ब्रह्मर्षिभिः = मरीच्यादिभिमुनिश्रेष्ठैः। सार्धं = सह। ब्रह्ममयीं = श्रुतिमयीं, परब्रह्मसंबन्धिनीं वा। कथां = चर्चामित्यर्थः। ['कथ' वाक्यप्रबन्धे, तस्मात् 'चिन्तिपूजिकथिकुम्बिचर्चश्च' इत्यङ्] वर्धयतः = कुर्वतः। अमुष्य = अस्य। त्रैलोक्य-बन्धोः = त्रैलोक्यहितकरस्य ब्रह्मणः। प्रत्यूषसन्ध्यासमयः = प्रातःसन्ध्यावन्दनकालः बभूव = जातः।

भाषार्थः—किसी समय गंगाजी के किनारे मरीचि आदि ब्रह्मर्षियों के साथ परब्रह्म के विषय में चर्चा करते हुए इस त्रिलोकी के बन्धु ब्रह्मदेव को प्रातःकालिक-सन्ध्यावन्दन का समय हो आया ॥ ३३ ॥

मृणालसूत्रं निजवल्लभायाः समुत्सुकश्चाटुषु चक्रवाकः।
अन्योन्यविश्लेषण-यन्त्रसूत्रभ्रान्त्येव चञ्चुस्थितमाचकर्ष ॥ ३४ ॥

अन्वयः—चाटुषु समुत्सुकः चक्रवाकः निजवल्लभायाः चञ्चुस्थितं मृणालसूत्रं अन्योन्यविश्लेषणयन्त्रसूत्रभ्रान्त्या इव आचकर्ष।

व्याख्या—चाटुष्विति। चाटुषु (स्वप्रेयस्याः) = अनुनयवचनेषु। समुत्सुकः = उत्कण्ठितः चक्रवाकः = कोकः 'कोकश्चक्रश्चक्रवाको रथांगाह्वयनामकः' इत्यमरः निजस्य

वल्लभायाश्चक्रवाक्याः। चञ्चुस्थितं=चञ्चुपुटधृतम्। मृणालसूत्रं=बिसतन्तुम्। अन्योन्यस्य=परस्परस्य, विश्लेषणं=वियोगः तस्य यन्त्रं वियोगजनकयन्त्रं तस्य भ्रान्त्या संदेहेनेव, आचकर्ष=आकृष्टवान्। यद्वा आरात्र्युपोषितः प्रियया वियुक्तो वराकश्चक्रवाकः उषसि स्वप्रेयस्याः समागमप्रत्याशया तदुपहाराय रात्रौ स्वचञ्चुधृतमपि सूत्रं प्रियावियोगव्यथया मुग्धो न त्यक्तुं नवाक्रष्टुं क्षम आसीदिदानीमुषसि लब्धचेतनो निजवल्लभायाश्चाटुषु समुत्सुकः अन्योन्यविश्लेषण-यन्त्रसूत्रभ्रान्त्येव मृणालतन्तुं जग्रासेति तात्पर्यम्।

अत्र चक्रवाककर्तृकचञ्चुस्थितमृणालसूत्राकर्षणे मृणालसूत्रे अन्योन्यविश्लेषण-यन्त्रसूत्रस्य भ्रान्तेर्हेतुत्वेन-संभावनप्रतिपादना उत्प्रेक्षालङ्कारः।

(प्रातः) अनुनयः-विनय भरे प्रियवचन कहने सुनने के लिये समुत्सुक चकवे ने अपनी प्रिया चकवी के चोंच में स्थित कमलतन्तु को इस आशंका से रात में 'एक दूसरे से वियोग करानेवाले यन्त्र की यह डोरी है' खींच लिया ॥ ३४ ॥

आरक्तमर्घार्पणतत्पराणां सिद्धाङ्गनानामिव कुङ्कुमेन।
बिम्बं दधे बिम्बफलप्रतिष्ठां राजीविनीजीवितवल्लभस्य ॥ ३५ ॥

अन्वयः—अर्घार्पणतत्पराणां सिद्धाङ्गनानां कुङ्कुमेन इव आरक्तं राजीविनीजीवितवल्लभस्य बिम्बं बिम्बफलप्रतिष्ठां दधे।

व्याख्या—अर्घेति। अर्घस्य अर्पणं=समर्पणं (सूर्याय) तत्र तत्परास्तासाम्-अर्घार्पणतत्पराणाम्=अर्घसमर्पणप्रसितानाम्। सिद्धाङ्गनानां=देवयोनिविशेषवनितानाम्। कुङ्कुमेनेव=अग्निशिखेनेव। 'अथ-कुङ्कुमं। काश्मीरजन्माग्निशिखं वरं बाह्लीकपीतनम्' इत्यमरः। आरक्तं=रक्तवर्णं। राजीविनीनां=कमलिनीनां। वल्लभस्य=प्राणप्रियस्य। बिम्बं=मण्डलं। बिम्बफलप्रतिष्ठाम्=आरक्ततिंदुरीफलसाम्यं। दधे=धारयामास। अत्र प्रातःकालिकरविबिम्बस्य बिम्बफलस्य च सादृश्यदर्शनादुपमा। सूर्यबिम्बस्य रक्तत्वे कुङ्कुमस्य कारणत्वेन संभावनात् हेतूत्प्रेक्षा ॥

भावार्थः—भगवान् सूर्य के लिये अर्घ (जलाञ्जलि) समर्पण में निमग्न सिद्धाङ्गनाओं के कुङ्कुम से ही मानो रक्तवर्ण को प्राप्त हुए सूर्यमण्डल ने बिम्बफल की प्रतिष्ठा को धारण किया। तात्पर्य यह है कि—सूर्यमण्डल इतना लाल हुआ कि बिम्बफल की तरह दिखाई देने लगा ॥ ३५ ॥

सुधाकरं वार्धकतः क्षपायाः सम्प्रेक्ष्य मूर्धानमिवानमन्तम् ।
तद् विप्लवायेव सरोजिनीनां स्मितोन्मुखं पङ्कजवक्त्रमासीत् ॥ ३६ ॥

अन्वयः—क्षपायाः वार्धकतः मूर्धानम् आनमन्तम् इव सुधाकरं सम्प्रेक्ष्य तद्विप्लवाय इव सरोजिनीनां पङ्कजवक्त्रं स्मितोन्मुखम् आसीत् ।

व्याख्या—क्षपेति । क्षपायाः=चन्द्रवल्लभायाः । वार्धकतः=वार्धकतां गतायाः गतप्रायाया रात्रेरितियावत् । मूर्धानं=मस्तकम् आनमन्तमिव = अवनमन्तमिव, 'अस्तोन्मुखत्वे मूर्ध्नोऽवनतिरिवोत्प्रेक्षणम्' । सुधाकरं=चन्द्रं, सरोजिनीरिपुं । सम्प्रेक्ष्य= अवलोक्य । तद्विप्लवाय–तस्याः=क्षपायाः । विप्लवाय=विडम्बनाय । अथवा– तस्य=चन्द्रस्य, विप्लवाय=उपहासाय–तद्विप्लवायेव=रात्रिविडम्बनायेव अथवा सुधाकरोपहासायेव । सरोजिनीनां=कमलिनीनां । पङ्कजमेव वक्त्रं = मुखं । स्मितोन्मुखं = विकासोन्मुखम्, ईषद्धास्योन्मुखम् । आसीत् = अभूत् ।

अत्र अप्रस्तुत-व्यवहारस्य कमलिनी व्यवहारे समारोपात् समासोक्त्यलङ्कारः । चन्द्रे च वार्धवयप्रयुक्तनम्रीभूतरात्रिरूपनायिकाशीर्षस्य उत्प्रेक्षणात् वस्तूत्प्रेक्षा । पङ्कजे वक्त्रत्वाभेदाद्रूपकम् । अत्रोत्प्रेक्षारूपकमूला समासोक्तिः । त्रयणामङ्गाङ्गि-भावसङ्करः ।

भाषार्थः—स्वप्रिया रजनी की वृद्धावस्था हो जाने से (रात समाप्त होने पर) मस्तक को नत किये हुए चन्द्रमा को (चन्द्रमा भी नीचे चला गया) देखकर उसकी हँसी उड़ाने के लिये ही मानो कमलिनियों का कमलरूपमुख, स्मितयुक्त हो उठा ॥ ३६ ॥

ज्ञात्वा विधातुश्चुलकात्प्रसूतिं तेजस्विनोऽन्यस्य समस्तजेतुः ।
प्राणेश्वरः पङ्कजिनीवधूनां पूर्वाचलं दुर्गमिवारुरोह ॥ ३७ ॥

अन्वयः—पङ्कजिनीवधूनां प्राणेश्वरः तेजस्विनः (अतएव) समस्तजेतुः अन्यस्य विधातुः चुलकात् प्रसूतिं ज्ञात्वा दुर्गमिव पूर्वाचलम् आरुरोह ।

व्याख्या—पङ्कजेति । पङ्कजिन्य एव वध्वस्तासां पङ्कजिनीवधूनां=कमलिनीनां । प्राणेश्वरः=सूर्यः । तेजस्विनः=प्रताप-शालिनः । [तेजोऽस्त्यस्येत्यर्थे तेजस्-शब्दात् 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' इति 'विनि' प्रत्ययः] 'अधिक्षेपावमानादेः प्रयुक्तस्य परेण यत् । प्राणात्ययेऽप्यसहनं तत्तेजः समुदाहृतम्' (भरतः) (अतएव) समस्तजेतुः=

सकलारिविजेतुः। अन्यस्य = इतरपुरुषस्य। चालुक्यवंशमूलभूतस्य। विधातुः = ब्रह्मणः। 'विधाता विश्वसृड्विधिः' इत्यमरः। चुलकात् = विस्तृताञ्जलेः। प्रसूतिम् = उत्पत्तिं। ज्ञात्वा = अवबुध्य। दुर्गमिव, पूर्वाचलम् = उदयाद्रिम्। आरुरोह = आरूढवान्। पद्मिन्यां वधूतादात्म्यारोपस्य, सूर्ये प्राणेश्वरस्य अभेदारोपे कारणत्वात् परम्परितं रूपकम्। पूर्वाचले दुर्गाभेदाद्रूपकम्। सूर्यस्य दुर्गारोहे अन्यतेजस्विन उत्पत्तिज्ञानस्य कारणत्वेनोत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षा। सूर्यवृत्तान्ते तादृशाप्रकृतान्यपुरुषवृत्तान्ताभेदसमारोपात् समासोक्तिः। अत एतेषां संकरः।

भाषार्थः—कमलिनियों के प्राणपति सूर्य भगवान्, किसी दूसरे तेजस्वी सकलशत्रुविजेता चालुक्यवंश के मूलभूत महापुरुष ब्रह्मा की अञ्जलि से उत्पत्ति होनेवाली जानकर, भय से उदयाचल रूपी दुर्गम किले पर चढ़ गये ॥ ३७ ॥

जगाम याङ्गेषु रथाङ्गनाम्नां परस्परादर्शनलेपनत्वम्।
सा चन्द्रिका चन्दनपङ्ककान्तिः शीतांशुशाणाफलके ममज्ज ॥३८॥

अन्वयः—या चन्द्रिका रथाङ्गनाम्नाम् अङ्गेषु परस्परादर्शनलेपनत्वं जगाम, सा चन्दनपङ्ककान्तिः सती शीतांशुशाणाफलके ममज्ज।

व्याख्या—येति। या = चन्द्रिका = कौमुदी। रथाङ्गनाम्नां = चक्रवाकानाम्। अङ्गेषु = अवयवेषु, गात्रेषु। परस्परयोः आदर्शने ईषद्दर्शनेऽपि लेपनत्वं परस्परादर्शनलेपनत्वम् = अन्योन्ययोः किंचित् प्रत्यक्षेऽपि, आच्छादकत्वं। जगाम-गता, प्राप्तेति-यावत्। सा पूर्वोक्तेत्यर्थः। चन्दनपङ्क इव कान्तिः शोभा यस्याः सा-चन्दनपङ्ककान्तिः—चन्दनपङ्क इव शोभाशालिनी सती शीतांशुरेव शाणाफलकं-तस्मिन् शीतांशुशाणाफलके वर्तुलत्वसाम्याच्चन्द्रे शाणाफलकत्वारोपः। ममज्ज-निमग्ना। चन्द्रिकया निखिललोके नितान्तं धवलिते चक्रवाकयुगलस्यान्योन्यादर्शनं संगतमेव। उदिते च सूर्यबिम्बे चन्द्रिकायाः कान्तिहीनत्वं, चन्द्रबिम्बे चन्द्रिकाया मग्नत्वं च संगच्छते चन्द्रिकायाश्चन्दनपङ्केन सह सादृश्यादुपमालङ्कारः। चंद्रिकानिमग्नार्थे निरूपणे, एकादशसर्गीयः श्लोको द्रष्टव्यः तथाहि—

वागुन्मीलति, भिन्नषड्जललिता, लीलाशुकानामपि
क्रोडे दन्तकरण्डपाण्डुरतनोर्मग्ना विधोश्चन्द्रिका।
पूर्वाशामुखमण्डनत्वमचिराच्चण्डांशुरायास्यति-
द्रागुन्मुद्रय देवि पङ्कजदलच्छायाबले लोचने। (११-७५)

भाषार्थः—जो, चक्रवाकों के अवयवों को परस्पर के प्रत्यक्ष करने में आच्छादक हो जाती थी, वह चन्द्रिका घिसे हुए चन्दन की कान्ति सी होती हुई चन्द्रमारूपी शाणाफलक में समा गई ॥ ३८ ॥

संध्यासमाधौ भगवाँस्थितोऽथ शक्रेण बद्धाञ्जलिना प्रणम्य ।
विज्ञापितः शेखरपारिजातद्विरेफनादद्विगुणैर्वचोभिः ॥ ३९ ॥

अन्वयः—अथ बद्धाञ्जलिना शक्रेण संध्यासमाधौ स्थितः भगवान् प्रणम्य शेखरपारिजातद्विरेफनादद्विगुणैः वचोभिः विज्ञापितः ।

व्याख्या—अथेति । अथ=अनन्तरं । बद्धोऽञ्जलिर्येन तेन बद्धाञ्जलिना=कमलमुकुलाकारमञ्जलिं कुर्वता । शक्रेण = इन्द्रेण । संध्यासमाधौ=सन्ध्योपासनायां तात्कालिके ध्याने । स्थितः = अवस्थितः । भगवान् = ब्रह्मदेवः । प्रणम्य = प्रणामं कृत्वा । शेखरे = मुकुटे, यानि पारिजातपुष्पाणि, तत्र ये द्विरेफाः = भ्रमरास्तेषां नादः = शब्दस्तेन द्विगुणानि = द्विरावृत्तानि तैः । वचोभिः = वचनैः । विज्ञापितः = प्रार्थितः ।

भाषार्थः—अनन्तर हाथ जोड़े हुए इन्द्र ने संध्या के समय समाधि में स्थित भगवान् ब्रह्मदेव को प्रणाम कर अपने मुकुट में ग्रथित कल्पतरु के कुसुमों पर मंडराने वाले भ्रमरों की गूंज से दुगनी ज्ञात होने वाली वचनावलि से प्रार्थना की ॥ ३९ ॥

इतः परं चतुर्भिः श्लोकैरिन्द्रः स्वीयमैश्वर्यं निरूपयन् ब्रह्माणं स्तौति—

आस्ते यदैरावणवारणस्य मदाम्बुसंगान्मिलितालिमाला ।
साम्राज्यलक्ष्मीजयतोरणाभे दन्तद्वये वन्दनमालिकेव ॥४०॥

अन्वयः—यत् ऐरावणवारणस्य मदाम्बुसंगात् मिलितालिमाला साम्राज्यलक्ष्मीजयतोरणाभे दन्तद्वये वन्दनमालिकेव आस्ते । (अस्य त्रिचत्वारिंशत्तमेन-श्लोकेन सम्बन्धः)

व्याख्या—यदिति । ऐरावणः = सुरगजः, स एव वारणः=करी, तस्य मदाम्बुसंगात् = मदजलप्रसंगात् । मिलिताः = एकत्रिताः ये अलयः=भ्रमरास्तेषां माला । साम्राज्यलक्ष्म्याः = साम्राज्यश्रियः, यो जयस्तस्य तोरणाभे = तोरणसदृशे, बहि-

द्वारसदृश इत्यर्थः । 'तोरणोऽस्त्री वहिर्द्वारमि'त्यमरः । दन्तद्वये । वन्दनमालिकेव = तोरणस्रगिव । आस्ते = वर्तते । सर्वोऽयं त्वत्पादसेवारजसां प्रभाव इत्यग्रिमेण श्लोकेन सम्बन्धः । दन्तद्वये विजयतोरणसाम्यात् अलिमालिकायाश्च वन्दनमालिकासाम्यादुपमालङ्कारः ।

भाषार्थ—ऐरावणनामक इन्द्रगज के मदजल के संवन्ध से (सुवास से) एकत्रित हुए भ्रमरों की पङ्क्ति, साम्राज्य की विजयलक्ष्मी के बहिर्द्वार के समान दो दांतों पर तोरण माला के तुल्य सुशोभित हो रही है ॥ ४० ॥

यदातपत्रं मम नेत्रपत्रसहस्रलोलालिकदम्बनीलम् ।
कुरङ्गनाभीतिलकप्रतिष्ठां मुखे समारोहति राजलक्ष्म्याः ॥४१॥

अन्वयः—यत् मम नेत्रपद्मसहस्रलोलालिकदम्बनीलम् आतपत्रं राजलक्ष्म्याः मुखे कुरङ्गनाभीतिलकप्रतिष्ठां समारोहति । (स त्वत्पादसेवारजसां प्रभाव इत्यग्रिमेण श्लोकेन अन्वितम्)

व्याख्या—यदिति । मम=इन्द्रस्येत्यर्थः । नेत्रपद्मानां सहस्रं तत्र लोलाः=चंचलाः ये अलयः = भ्रमरास्तेषां कदम्बः = समूहस्तदिव नीलं=नीलवर्णं, यदातपत्रं=छत्रं, राजलक्ष्म्याः, मुखे = वदने । कुरङ्गनाभीतिलकस्य = कस्तूरीतिलकस्य । प्रतिष्ठां=सादृश्यं । समारोहति = भजते । (स त्वत्पादसेवारजसां प्रभाव इत्यग्रिमेण संबन्धः) नीलच्छत्रस्य साम्यादुपमा । नेत्रेषु पद्मत्वारोपात् रूपकम् । कृष्णचञ्चलताराणां लोलालित्वेनाध्यवसितत्वादतिशयोक्तिः । अत्रैतेषामङ्गाङ्गिभावसंकरः ।

भाषार्थः—मेरे जो हजार नेत्रकमलों पर चंचल होने वाले भ्रमर-समूह की नीलिमा की तरह नीलवर्ण मेरा छत्र, राजलक्ष्मी के मुखपर कस्तूरी के तिलक के समान सुशोभित हो रहा है । (वह आपकी चरण-धूल की सेवा का प्रभाव है— इस ४२ वें श्लोक से संबंधित है) ॥ ४१ ॥

यन्नन्दने कल्पमहीरुहाणां छायासु विश्रम्य रतिश्रमेण ।
गायन्ति मे शौर्यरसोर्जितानि गीर्वाणसारङ्गदृशो यशांसि ॥४२॥

अन्वयः—यद् गीर्वाणसारङ्गदृशः नन्दने कल्पमहीरुहाणां छायासु रतिश्रमेण विश्रम्य मे शौर्यरसोर्जितानि यशांसि गायन्ति ।

व्याख्या—यदिति । गीर्वाणानां = देवानां [गिरं वन्वते, स्तुतिप्रियत्वात् 'वनु' याचने, ततः 'कर्मण्यण्' इत्यण्, 'पूर्वपदात्संज्ञायामगः' इति 'णत्वम्'] 'बर्हिर्मुखाः क्रतुभुजो गीर्वाणा दानवारयः' इत्यमरः । सारङ्गस्य दृगिव दृक् यासान्ताः—सारङ्गदृशः = मृगनयनाः, देवाङ्गना इत्यर्थः । नन्दने = नन्दनवने, इन्द्रोद्यान इत्यर्थः । 'नन्दनं वनमि'त्यमरः । कल्पमहीरुहाणां = कल्पशाखिनां । छायासु = अनातपेषु रतिश्रमेण = संभोगपरिश्रमेण । विश्रम्य = ग्लानिं दूरीकृत्य (वि + श्रम् + ल्यप्) मे = ममेन्द्रस्य । शूरस्य भावः कर्म वा—शौर्यं ['गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि-चे'ति ष्यञ्] तदेव रसः = वीररसस्तेन, ऊर्जितानि = उन्नतानि, वीररसोन्नतानीति-यावत् । यशांसि = कीर्त्तीः । गायन्ति = स्तुवन्ति ।

भाषार्थः—तथा जो देवाङ्गनाएँ नन्दन वन में कल्पवृक्षों की छायाओं के नीचे अपने रतिश्रम को दूर करने के हेतु विश्रामकर, वीररस से समुन्नत मेरी कीर्ति को गाती रहती हैं । (इसका भी ४३ वे श्लोक से सम्बन्ध है) ॥ ४२ ॥

किं वा बहूक्तैः पुरुहूत एष पात्रं महिम्नो यदनङ्कुशस्य ।
स्वामिन् स सर्वोऽपि शिरोधृतानां त्वत्पादसेवारजसांप्रभावः ॥ ४३ ॥

अन्वयः—(हे) स्वामिन् ! बहूक्तैः किं वा, एषः पुरुहूतः यत् अनंकुशस्य महिम्नः पात्रं स सर्वोऽपि शिरोधृतानां त्वत्पादसेवारजसां प्रभावः (अस्ति)

व्याख्या—स्वामिन्निति । (हे) स्वामिन् = हे नाथ, विधातः ! सम्बोधनमेतत् । बहूक्तैः किंवा = अनल्पवचोभिः को लाभः ['गम्यमानापि क्रिया कारकविभक्तिप्रयोजिका' करणे तृतीया] अयं । पुरु = प्रचुरं, हूतम् = आह्वानं यज्ञेष्वस्येति, अथवा पुरूणि हूतानि नामान्यस्येति—पुरुहूतः = इन्द्रः, 'वृद्धश्रवाः सुनासीरः पुरुहूतः पुरन्दरः' इत्यमरः । यत्—यस्माद्धेतोः । न विद्यते अङ्कुशो यस्मिंस्तस्य—अनङ्कुशस्य= निरवधेः, निर्मर्यादस्येत्यर्थः । महिम्नः = ऐश्वर्यस्य, प्रभुत्वस्येत्यर्थः पात्रं = भाजनं । स, सर्वोऽपि = सकलोऽपि । शिरसा धृतानां । तव पादयोः सेवाया रजांसि तेषां = त्वत्पादसेवारजसां = त्वच्चरणसेवांशानां । प्रभावः = प्रतापः [भवत्यनेनेति भावः 'श्रिणीभुवोऽनुपसर्गे' इति 'घञ्' प्रत्ययः, प्रकृष्टो भावः, प्रभवनं वेति—प्रभावः, भावे घञ्] चक्रकं (कलापकं) 'कलापकश्चतुर्भिः स्या'दिति तल्लक्षणात् । शब्दोऽयं कलापकार्थे कश्मीरे रूढः ।

छान्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम् ।
द्वाभ्यान्तु युग्मकं सन्दानितकं त्रिभिरिष्यते ॥
कलापकश्चतुर्भिश्च पञ्चभिः कुलकं मतम् ।

अत्र पञ्चभिरिति न्यूनसंख्या व्यवच्छेदः । पञ्चभिः पञ्चाधिकैश्चेत्यर्थः । सन्दानितकं विशेषकं-तिलकं वा ।

भाषार्थः—हे नाथ ! बहुत कहने से क्या लाभ ? जो यह इन्द्र, अपार ऐश्वर्य का स्वामी है, वह सब आप की कुछ अंशों में की हुई सेवा का ही फल है ॥ ४३ ॥

जहां अर्थ की पूर्ति, चार श्लोकों में होती है उसे कलापक कहते हैं । कश्मीर में कलापक को 'चक्कलक' कहते हैं ।

निवेदितश्चारजनेन नाथ तथा क्षितौ सम्प्रति विप्लवो मे ।
मन्ये यथा यज्ञविभागभोगः स्मर्तव्यतामेष्यति निर्जराणाम् ॥ ४४ ॥

अन्वयः—(हे) नाथ ! चारजनेन सम्प्रति तथा विप्लवः मे निवेदितः, यथा निर्जराणां यज्ञविभागभोगः स्मर्तव्यताम् एष्यति इति मन्ये ।

व्याख्या—नाथेति । नाथ = हे स्वामिन् ! चारजनेन = गुप्तचरलोकेन [चरतीति चरः 'पचाद्यच्' इत्यच् । चर एव चारः 'प्रज्ञादिभ्यश्चेत्यण्, 'तद्धितेष्वचामादेः' इत्यादिवृद्धिः] चारश्चासौ जनश्च-चारजनस्तेन सम्प्रति = साम्प्रतम् अधुनेत्यर्थः । तथा = तेन प्रकारेण, [तद् शब्दात् 'प्रकारवचने थाल्' इति स्वार्थे थाल् प्रत्ययः, विभक्तित्वात् 'त्यदादीनामः' इति 'अकारः'] 'व वा यथा तथैवैवं साम्ये' इत्यमरः । विप्लवः = धर्मविपर्ययोऽधर्माचारः अशास्त्रकलह इति यावत् । [विप्लवनं-विप्लवः, अत्र 'प्लुङ्' गतौ धातोः 'ऋदोरप्' इत्यप् प्रत्ययः] मे = मह्यम् । निवेदितः = कथितः । यथा=येन प्रकारेण [यद् शब्दात् 'प्रकारवचने थाल्' इति थाल् प्रत्ययः, विभक्तित्वात् त्यदाद्यत्वम्] निर्गता जरा येभ्यस्तेषां-निर्जराणां = देवानां । 'अमरा निर्जरा देवास्त्रिदशा विबुधाः सुराः' इत्यमरः । यज्ञविभागभोगः-यज्ञे विभागस्तस्य भोगः = यज्ञांशभोजनम् । स्मर्तव्यतां=स्मरणीयतां, लोपमित्यर्थः । एष्यति = प्राप्स्यति । इति = इत्थं । मन्ये = जानामि ।

भाषार्थः--हे नाथ ! गुप्तचरों ने आजकल उस तरह के अशास्त्र-कलह

(अधर्माचार) को मुझ से निवेदन किया है, जिससे मैं समझता हूं कि देवताओं को यज्ञीय भाग मिलना ही समाप्त हो जायगा ॥ ४४ ॥

धर्मद्रुहामत्र निवारणाय कार्यस्त्वया कश्चिदवार्यवीर्यः ।
रवेरिवांशुप्रसरेण यस्य वंशेन सुस्थाः ककुभः क्रियन्ते ॥ ४५ ॥

अन्वयः—अत्र धर्मद्रुहां निवारणाय त्वया अवार्यवीर्यः कश्चित् कार्यः. यस्य वंशेन रवेः अंशुप्रसरेण इव सुस्थाः ककुभः क्रियन्ते ।

व्याख्या—अत्रेति । अत्र=भूवलये । धर्माय द्रुह्यन्ति तेषां, धर्मद्रुहां=धर्मविरोधिनां । निवारणाय=प्रतिषेधाय । त्वया=भवता, ब्रह्मणा, विधात्रेत्यर्थः । अवार्यं वीर्यं यस्य सः, अवार्यवीर्यः=अवन्ध्यपराक्रमः । कश्चिद्=अनिर्वचनीयः । कार्यः=उत्पाद्यः । [कर्तुं योग्यः कार्यः, अत्र 'कृ' धातोः 'ऋहलोर्ण्यत्' इति ण्यत् प्रत्ययः, 'अचो ञ्णिति' इत्यादिवृद्धिः] यस्य=उत्पन्नवीरस्य वंशेन=कुलेन । रवेः= सूर्यस्य । अंशुप्रसरेण=किरणविस्तारेणेव । ['सृ' गतौ, ततो बाहुलकादप्प्रत्ययः] 'प्रसरस्तु विसर्पणम्' इत्यमरः । सुस्थाः=प्रकाशिताः, सुखबहुलाश्च [सु+'स्था' धातोः 'सुपि स्थः' इति 'क' प्रत्ययः, 'आतो लोप इटि चे'त्याकारलोपः] ककुभः = प्राच्यादिदिशः, दिक्षुस्थिताश्च लोकाः । क्रियन्ते=विधीयन्ते । राज्ञि सूर्यस्य साम्यात् तद्वंशे चांशुप्रसरस्य साम्यादुपमालङ्कारः ।

भाषार्थः—आप इस भूमण्डल पर धर्मविरोधियों का निषेध करने के लिये अप्रतिहत पराक्रमशाली किसी वीर को पैदा करें । सूर्य के किरणों की भांति जिससे आगे चलनेवाले वंश से सभी दिशाओं के लोग सुखी हों ॥ ४५ ॥

पुरन्दरेण प्रतिपाद्यमानमेवं समाकर्ण्य वचो विरिञ्चिः ।
सन्ध्याम्बुपूर्णे चुलुके मुमोच ध्यानानुविद्धानि विलोचनानि ॥४६॥

अन्वयः—विरिञ्चिः पुरन्दरेण एवं प्रतिपाद्यमानं वचः समाकर्ण्य ध्यानानुविद्धानि विलोचनानि सन्ध्याम्बुपूर्णे चुलुके मुमोच ।

व्याख्या—विरिञ्चिः=ब्रह्मदेवः [विरचयतीति-विरिञ्चिः, 'रच' प्रतियत्ने, ततः स्वार्थण्यन्तात् 'अच इः' इति 'इ' प्रत्ययः, 'पृषोदरादित्वात्' इति अकारस्येत्वं नुमागमश्च] 'धाताब्जयोनिर्द्रुहिणो विरिञ्चिः कमलासनः' इत्यमरः । पुरन्दरेण= इन्द्रेण [पुरोऽरीणां दारयतीति-पुरन्दरः, अत्र दारेः, 'पूःसर्वयोर्दारिसहोः' इति खचि, णिलोपे, 'खचि ह्रस्वः' इत्युपधाह्रस्वे सुपो लुकि 'वाचंयमपुरन्दरौ च' इति

निपातनादमन्तत्वम्] 'पुरुहूतः पुरन्दरः' इत्यमरः। एवम् = इत्थं। प्रतिपाद्य-मानं=प्रोच्यमानं। वचः = वचनं। समाकर्ण्य = श्रुत्वा। ध्यानानुविद्धानि=ध्यान-व्याप्तानि। विलोचनानि = नेत्राणि। चतुर्मुखत्वाद् बहुवचनम्। सन्ध्याम्बुपूर्णे = सन्ध्याजलपरिपूर्णे। चुलुके = विस्तृताञ्जलौ। मुमोच, चुलुकमवलोकयामासेति भावः।

भाषार्थः—इन्द्रके कहे हुए वचनों को सुनकर ध्यान में मग्न हुए ब्रह्मदेवने अपनी दृष्टिसे, सन्ध्याके जल से परिपूर्ण अपनी अञ्जलो को देखा ॥ ४६ ॥

अथ कुलकम्

प्रकोष्ठपृष्ठस्फुरदिन्द्रनील-रत्नावलीकङ्कणडम्बरेण।
बन्धाय धर्मप्रतिबन्धकानां वहन्सहोत्थानिव नागपाशान् ॥ ४७ ॥

अन्वयः—प्रकोष्ठपृष्ठस्फुरदिन्द्रनीलरत्नावलीकङ्कणडम्बरेण धर्मप्रतिबन्धकानां बन्धाय सहोत्थितान् नागपाशान् वहन् इव, 'आविरासीत्' इति परेण सम्बन्धः।

व्याख्या—प्रकोष्ठेति। प्रकोष्ठः = मणिबन्धस्य कूर्परस्य चान्तरं, तस्य पृष्ठे= पृष्ठभागे, स्फुरन्ति = दीव्यन्ति, यानि इन्द्रनीलरत्नानि तेषाम् अवली = पङ्क्तिः यस्मिन् तादृशःकङ्कणस्तस्य डम्बरः = विलासस्तेन। धर्मप्रतिबन्धकानां = धर्मद्रुहां, धर्मविनाशकानामिति यावत्। बन्धाय=बन्धनाय। सहोत्थितान=सहोत्पन्नान्। नाग-पाशान् = सर्पबन्धनानि। वहन् इव=धारयन्निव सुभटो धातुश्चुलकाद् 'आविरासीत्'- इति सम्बन्धः। इन्द्रनीलरत्नावलीकङ्कणे नागपाशस्य संभावनात् उत्प्रेक्षा। सा च 'डम्बरेण' इत्यपह्नुतिमूलत्वात् सापह्नवा।

भाषार्थः—हाथ की कलाईपर पहने हुए इन्द्रनीलमणि-जटित कङ्कण की सोभासे ऐसा ज्ञात होता था कि मानो धर्म के शत्रुओं को बांधने के लिए साथ ही पैदा हुए नागपाशों को धारण किये हो। (इसका सम्बन्ध पचपनवेंश्लोक से है ॥ ४७ ॥

उत्तर्जनीकेन मुहुः करेण कृताकृतावेक्षणबद्धलक्षः।
रुषा निषेधन्निव चेष्टितानि दिक्पालवर्गस्य निरर्गलानि ॥ ४८ ॥

अन्वयः—कृताकृतावेक्षणबद्धलक्षः रुषा उत्तर्जनीकेन करेण दिक्पालवर्गस्य निरर्गलानि चेष्टितानि मुहुः निषेधन्निव, ('आविरासीत्' इति अग्रिमश्लोकेन सम्बन्धः)।

व्याख्या—कृतेति । कृतञ्च तदकृतञ्च कृताकृते, तयोरवेक्षणं, तत्र बद्धं लक्षं येन सः–कृताकृतावेक्षणबद्धलक्षः = विहिताविहितसमीक्षणदत्तदृष्टिः । रुषा = क्रोधेन । उद्गता तर्जनी यस्य, तेन–उत्तर्जनीकेन = उन्नतदेशनिकेन । करेण = हस्तेन । दिक्पालानां वर्गस्तस्य–दिक्पालवर्गस्य=दिक्पालसमूहस्य । निरर्गलानि = निरङ्कुशानि । चेष्टितानि = कार्याणि । मुहुः = पुनः पुनः । निषेधन्निव = प्रतिषेधन्निव । 'आविरासीदि'ति परेण सम्बन्धः । उत्तर्जनीककरे दिक्पालचेष्टितकर्मकनिषेधक्रियायाः समुत्प्रेक्षणात्–क्रियोत्प्रेक्षा ।

[१. 'अनेकमन्यपदार्थे' इति बहुव्रीहिः । 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति सुब्लुक् । 'नद्यृतश्च' इति नद्युत्तरपदाद् बहुव्रीहेः कप् , 'केऽणः' इति ह्रस्वे प्राप्ते 'न कपि' कपि परे अणो ह्रस्वो न स्यादिति न ह्रस्वः]

भावार्थः—(ब्रह्मा के) किये हुए और न किये हुए कार्यों को देखने वाला, क्रोध के कारण हाथ की उठी हुई तर्जनी से मानों, दिक्पालोंके निरंकुशकार्यों का (भयजनित निष्फल चेष्टाओंको) बारबार निषेध कर रहा हो ॥ ४८ ॥

भोगाय वैपुल्यविशेषभाजं कर्तुं धरित्रीं निजवंशजानाम् ।
केयूरसङ्क्रान्त विमानभङ्ग्या भुजोद्धृतक्ष्माभृदिवेक्ष्यमाणः ॥४९॥

अन्वयः—निजवंशजानां भोगाय वैपुल्यविशेषभाजं धरित्रीं कर्तुं केयूरसङ्क्रान्तविमानभङ्ग्या, भुजोद्धृतक्ष्माभृत् इव अवेक्ष्यमाणः । 'आविरासीदि'ति परेण सम्बन्धः ।

व्याख्या—निजेति । निजवंशजानां=स्वकुलोत्पन्नानां, चालुक्यानामिति शेषः । भोगाय = उपभोगाय । विपुलस्य भावः–वैपुल्यं, तस्य विशेषः=आधिक्यं तं भजति सा–वैपुल्यविशेषभाक्, तां–वैपुल्यविशेषभाजम् = अतिविशालां, विस्तीर्णतरामिति यावत् । धरित्रीं = पृथ्वीं, धरणीम् । 'धरा धरित्री धरणी क्षोणिर्ज्या काश्यपीक्षितिः' इत्यमरः । कर्तुं = विधातुम् । केयूरयोः = अङ्गदयोः सङ्क्रान्तानि = प्रतिबिम्बितानि, विमानानि = व्योमयानानि, सप्तभूमिकागृहाणि वा, तेषां भङ्ग्या = व्याजेन, मिषेण । भुजाभ्याम्–उद्धृताः, क्ष्माभृतः = पर्वता राजानश्च येन सः । इव । अवेक्ष्यमाणः = विलोक्यमानो जनैरिति शेषः । 'आविरासीदि'ति परेण सम्बन्धः । नेमे विमानाः किन्तु क्ष्माभृत इति भङ्गिशब्देन प्रतिपादनात् आर्थी अपह्नुतिः, तन्मूला विमानोपरि क्ष्माभृतामुत्प्रेक्षा । अतः द्वयोरङ्गाङ्गिभावसंकरः ।

भाषार्थः—चालुक्यवंश में उत्पन्न लोगों के उपभोगार्थ पृथ्वी को (अपने राज्य को) अति विपुल बनाने की इच्छा से भुजाओं में धारण किये अंगदों में प्रतिफलित वायुयान अथवा सप्तभूमिक प्रासादों के मिष से भुजाओं द्वारा पर्वतों और राजाओं को उखाड़ फेकते हुए की तरह लोगोंसे देखा जा रहा हो ॥ ४९ ॥

अखर्वगर्वस्मितदन्तुरेण विराजमानोऽधरपल्लवेन ।
समुत्थितः क्षीरविपाण्डुराणि पीत्वेव सद्यो द्विषतां यशांसि ॥ ५० ॥

अन्वयः—अखर्वगर्वस्मितदन्तुरेण अधरपल्लवेन विराजमानः क्षीरविपाण्डुराणि द्विषतां यशांसि सद्यः पीत्वेव समुत्थितः ।

व्याख्या—अखर्वेति । न खर्वः, अखर्वः, स चासौ गर्वस्तेन स्मितं-तेन दन्तुरस्तेन—अखर्वगर्वस्मितदन्तुरेण = प्रचुरदर्पमन्दहास्यप्रकाशितेनोन्नतेन वा । [दन्तुर इत्यत्र 'दन्तउन्नत उरच्' इत्युरच् । अधरः पल्लव इव तेन-अधरपल्लवेन = अधरोष्ठेन । [उपलक्षणे तृतीया] विराजतेऽसौ-विराजमानः = शोभमानः । क्षीर-विपाण्डुराणि-क्षीरस्येव विपाण्डुराणि = दुग्धधवलानि । द्विषन्ति, ते-द्विषन्तस्तेषां-द्विषतां = द्रुह्यताम् । शत्रूणामित्यर्थः । यशांसि = कीर्तीः । 'यशः कीर्तिः समज्ञा चे'त्यमरः । सद्यः = तत्क्षणं । पीत्वेव = पानंकृत्वेव । समुत्थितः = समुत्पन्नः । नव-जातशिशुर्दुग्धम्पिबतीत्यनुसन्धीयते । जातमात्र एव तस्मिन् वैरियशांसि नश्यन्ति-स्मेतितात्पर्यम् । अधरे पल्लवाभेदाद्रूपकम् । क्षीरेण यशसः साम्यादुपमा । क्षीररूप-यशःपानानन्तरं समुत्थानस्य उत्प्रेक्षणात् क्रियोत्प्रेक्षा । अत एतेषां सङ्करः समु-त्थितः=सम् + उत् + स्था + क्त । विराजमानः-वि + राज् + शानच्] ॥ ५० ॥

भाषार्थः—प्रबलगर्व के कारण अधरोष्ठोंपर मन्दहास्य के स्फुरित होनेसे शोभमान शत्रुओंके दुग्ध के समान धवल यश को तत्काल पीकर ही मानो उठ बैठा हो । 'उसके उत्पन्न होते ही शत्रुओं के यश नष्ट हो गए', यह तात्पर्य है ॥ ५० ॥

सुवर्णनिर्माणमभेद्यमस्त्रैः स्वभावसिद्धं कवचं दधानः ।
जयश्रियः काञ्चनविष्टराभं समुद्वहन्नुन्नतमंसकूटम् ॥ ५१ ॥

अन्वयः—सुवर्णनिर्माणम् अस्त्रैः अभेद्यं स्वभावसिद्धं कवचं दधानः जयश्रियः काञ्चनविष्टराभम् उन्नतम् अंसकूटं समुद्वहन्—'आविरासीत्' ।

व्याख्या—सुवर्णेति । सुवर्णनिर्माणं=सुवर्णनिर्मितम् । [निर्मीयत इति निर्माणम्, 'माङ्' माने शब्दे च ततो 'ल्युट् च' इति नपुंसके भावे ल्युट्] अस्त्रैः= प्रहरणैः । [अस्यते इति अस्त्रम्, 'असु' क्षेपणे ततः 'सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्' इति 'ष्ट्रन्' प्रत्ययः ।] 'अस्त्रं प्रहरणे चापे करवाले नपुंसकम्' इति मेदिनी । अभेद्यम् = अच्छेद्यम् । स्वभावसिद्धं = नैसर्गिकं, प्रकृतिजन्यमित्यर्थः । कवचं=वर्म । 'अथ तनुत्रं वर्म दंशनम् । उरश्छदः कङ्कटको जगरः कवचोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । दधानः= धारयन् [धत्तेऽसौ-दधानः, धा—शानच्] जयश्रियः = जयलक्ष्म्याः काञ्चनविष्टराभं = सौवर्णासनकान्तिम् । उन्नतम् =उच्चैस्तरम् । अंसकूटं=स्कन्धशिखरं, वृषवत् पुष्टस्कन्धमिति यावत् । 'माया निश्चलयन्त्रेषु कैतवानृतराशिषु । अयोघने शैलशृङ्गे सीराङ्गे कूटमस्त्रियाम्' इत्यमरः । समुद्वहन् = धारयन्—'आविरासीत्' । उन्नतस्कन्धत्वञ्चमहापुरुषलक्षणमिति सामुद्रिके—'कक्षः कुक्षिश्च वक्षश्च घ्राणः- स्कन्धो ललाटिका । सर्वभूतेषु निर्दिष्टा उन्नतास्तु सुखप्रदाः' ॥ काञ्चनाभदेह- प्रभायां स्वभावसिद्धकवचस्योत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षा । वाचकाभावाच्च तस्या व्यङ्ग्यत्वम् । अंसकूटे काञ्चनविष्टरस्य साम्यादुपमा । देहस्य सुवर्णे स्वभावसिद्धस्वर्णनिर्मित- कवचस्य तादात्म्यारोपात् रूपकमपि इति उत्प्रेक्षारूपकयोः सन्देहसंकरः ।

भाषार्थः—सुवर्ण के बने हुए तथा अस्त्रों से अभेद्य स्वाभाविक कवच को धारण किया हुआ और राजलक्ष्मी के सुवर्णासन के समान उज्ज्वल तथा शिखर सदृश समुन्नत स्कन्धप्रदेशों को धारण करनेवाला (एक वीर प्रकट हुआ ।) ॥५१॥

स्वःसुन्दरीबन्दिपरिग्रहाय दत्तोऽञ्जलिः सम्प्रति दानवेन्द्रैः ।
इति प्रहर्षादमराङ्गनानां नेत्रोत्पलश्रेणिभिरर्च्यमानः ॥ ५२ ॥

अन्वयः—सम्प्रति दानवेन्द्रैः स्वःसुन्दरीबन्दिपरिग्रहाय अञ्जलिः दत्तः इति अमराङ्गनानां प्रहर्षात् नेत्रोत्पलश्रेणिभिः अर्च्यमानः—'आविरासीत्' ।

व्याख्या—सम्प्रतीति सम्प्रति = अधुना । 'एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतं तथा' इत्यमरः । दानवेन्द्रैः, दनोरपत्यानि पुमांसो–दानवास्तेषामिन्द्राः = श्रेष्ठास्तैः— असुरश्रेष्ठैः । 'असुरादैत्यदैतेयदनुजेन्द्रारिदानवाः' इत्यमरः । स्वःसुन्दरीबन्दिपरि- ग्रहाय स्वःसुन्दरीणां =स्वर्गीयललनानां, बन्दीरूपः ['वदि' अभिवादनस्तुत्योः तत 'आवश्यकाधमर्णयोर्णिनिः' इति आवश्यकेऽर्थे णिनिः, अवश्यं वन्दन्ते इति वन्दिनः]

परिग्रहः—तस्मै—स्तुतिपाठकत्वेन स्वीकाराय, [परिगृह्यते इति परिग्रहः-परि + ग्रह + अच् 'विभाषा ग्रहः' इत्यच् ।] 'परिग्रहः-कलत्रे च मूल स्वीकारयोरपि । शपथे परिवारे च राहुवक्त्रस्थभास्करे' इत्यजयः । यद्वा ओष्ठ्यपाठ परिग्रहे 'वन्दिः-कारावद्धमनुष्यादौ' इति कोशात् सुन्दर्य एव कारावद्धास्तासां स्वीकाराय, ता बन्दी कर्तुमित्यर्थः । बवयोरभेद इति केचित् । अञ्जलिर्दत्तः इति = इतः परं दानवा देवाङ्गना न वन्दिनीः करिष्यन्तीति हेतोः । प्रहर्षात् = आनन्दात् । अमराङ्गनानां = सुरसुन्दरीणां । नेत्रोत्पलश्रेणिभिः=नयनाब्जपङ्क्तिभिः । अर्च्यमानः = सादरमवलोक्यमानः । 'आविरासीत्' । नेत्रोत्पलश्रेणिभिरर्च्यमाने प्रहर्षस्य हेतुत्वेनोत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षा । नेत्रयोः उत्पलसाम्यादुपमा, नेत्राण्येवोत्पलानीति रूपकमपि । अत एषां सङ्करः ।

भाषार्थः—अब (चालुक्यवंश के आदि पुरुष के प्रकट होते ही) दानवेन्द्रोंने स्वर्गीय सुन्दरियों को अपनी स्तुतिपाठिका बनाकर रखने के नियम को त्याग दिया है । इस कारण स्वर्गीय सुन्दरियों के आनन्दित नेत्र-कमलों की पङ्क्तियों से सादर दृष्ट ॥ ५२ ॥

अपि स्वयं पङ्कजविष्टरेण देवेन दृष्टश्चिरमुत्सुकेन ।
वाञ्छाधिक-प्रस्तुत-वस्तु-सिद्धि-सविस्मयस्मेरमुखाम्बुजेन ॥५३॥

अन्वयः—वाञ्छाधिकप्रस्तुतवस्तुसिद्धिसविस्मयस्मेरमुखाम्बुजेन पङ्कजविष्टरेण उत्सुकेन देवेन स्वयमपि चिरं दृष्टः (सुभटः आविरासीदित्यनेन सम्बन्धः) ।

व्याख्या—वाञ्छेति । वाञ्छायाः = अभिलाषादधिका = प्रचुराः, प्रस्तुतस्य = अभिप्रेतस्य, वस्तुनः = पदार्थस्य, सिद्धिः = साफल्यं—तया, सविस्मयं = साश्चर्यं, स्मेरं = मन्दहास, मुखाम्बुजं = मुखकमलं यस्य तेन । पङ्कजं = कमलं, विष्टरम् = आसनं यस्य तेन । उत्सुकेन = उत्कण्ठितेन, देवेन = विधात्रा । स्वयमपि = आत्मनापि । चिरं = दीर्घकालं । दृष्टः = अवलोकितः । मुखे अम्बुजाऽभेदाद्रूपकम् ।

भाषार्थः—अपेक्षित से भी अधिक लाभ होने से आश्चर्य के साथ मन्दस्मित के कारण जिनका मुखकमल विकसित हो उठा हो ऐसे कमलासन पर अधिष्ठित ब्रह्मा के द्वारा उत्सुकता से बहुत समय तक देखा गया (एक वीर उत्पन्न हुआ) ॥ ५३ ॥

कषोपले पौरुषकाञ्चनस्य पङ्के यशःपाण्डुसरोरुहाणाम् ।
व्यापारयन् दृष्टिमतिप्रहृष्टामवाप्तपाणि-प्रणये कृपाणे ॥ ५४ ॥

अन्वयः—पौरुषकाञ्चनस्य कषोपले, यशःपाण्डुसरोरुहाणां पङ्के, अवाप्तवाणि-प्रणये कृपाणे अतिप्रहृष्टां दृष्टिं व्यापारयन्—'आविरासीत्' ।

व्याख्या—पौरुषेति । पुरुषस्य कर्म पौरुषं=पराक्रमस्तदेव काञ्चनं = सुवर्णं, तस्य । कषोपले = निकषपाषाणे, परीक्षणस्थान इत्यर्थः । यशःपाण्डुसरोरुहाणां—यशांस्येव पाण्डुसरोरुहाणि = श्वेतपुण्डरीकाणि, तेषाम् । पङ्के = कर्दमे, उद्भव-स्थान इत्यर्थः । अवाप्तपाणिप्रणये अवाप्तः = सम्प्राप्तः, पाणेः = करस्य, प्रणयः = अवस्थानं प्रीतिर्येन तस्मिन् । कृपाणे = खड्गे । अतिप्रहृष्टाम् = अतिप्रसन्नां । दृष्टिं = दृशम् । व्यापारयन्=प्रेरयन्, सुभटः 'आविरासीत्'। इत्यनेनान्वयः । पौरुषे काञ्चना-भेदारोपस्य कृपाणे कषोपलत्वारोपे कारणत्वात् यशसि श्वेतपद्मारोपस्य च खड्गे पङ्कत्वारोपेकारणत्वात् परंपरितरूपकद्वयम् ।

भाषार्थः—हाथ में स्थिति प्राप्त होने से जिसने उससे प्रेम सम्पादन कर लिया है ऐसे खड्ग पर, जो पराक्रमरूपी सुवर्ण की मानो कसौटी है अथवा यशरूपी श्वेत कमल की उत्पत्ति का स्थान है, अपनी अत्यन्त प्रसन्न दृष्टि को फेरते हुए अर्थात् प्रसन्नता भरी दृष्टिसे खड्ग को निहारता हुआ एक वीर उत्पन्न हुआ ॥५४॥

हेमाचलस्येव कृतः शिलाभिरुदारजाम्बूनदचारुदेहः ।
अथाविरासीत्सुभटस्त्रिलोकत्राणप्रवीणश्चुलुकाद्विधातुः ॥ ५५ ॥

अन्वयः—अथ हेमाचलस्य शिलाभिः कृत इव उदारजाम्बूनदचारुदेहः त्रिलोकत्राणप्रवीणः सुभटः विधातुः चुलुकाद् आविरासीत् ।

व्याख्या—अथेति । अथ=अनन्तरं, चुलुकावलोकनानन्तरमित्यर्थः । हेमा-चलस्य-सुवर्णगिरेर्मेरोः, शिलाभिः=पाषाणैः । कृतः=निर्मित इव । उदारजाम्बू-नदचारुदेहः-उदारं=भास्वरं, यज्जाम्बूनदं = सुवर्णं, तद्वच्चारुः = सुन्दरः, देहः= कायो यस्य सः । त्रिलोकत्राणप्रवीणः—त्रयश्च ते लोकास्त्रिलोकाः, (विभाषेत्य-धिकारान्नात्र द्वन्द्वः) तेषां त्राणं=रक्षणं, ['त्रैङ्' पालने ततो ल्युट्] तत्र प्रवीणः = निपुणः समर्थ इति यावत् । [वीणया प्रगीयते इति णिजन्तात् कर्मणि घञ्] 'प्रवीणे निपुणाभिज्ञविज्ञनिष्णातशिक्षिताः' इत्यमरः । सुभटः = वीरः;

['भट्' भृतौ ततः पचाद्यच्] 'भटः स्यात् पुंसि वीरे च विशेषे पामरस्य च'ेति मेदिनी। विधातुः=ब्रह्मणः। चुलुकात् = विस्तृताञ्जलेः। आविरासीत् = प्रकटीबभूव।

अत्र नवभिः श्लोकैः कुलकं समाप्तम्। पद्यमुक्तकयुग्मकुलककलापकादिबोधक-लक्षणानि। तथा च—

छन्दोबद्ध पदं पद्यं तेनैकेन च मुक्तकम्।
द्वाभ्यां युग्मञ्च सन्दानितकं त्रिभिरिष्यते॥
कलापकं चतुर्भिश्च पञ्चभिः कुलकं मतम्॥

तथा—द्वाभ्यां युग्ममिति प्रोक्तं त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम्।
कलापकं चतुर्भिः स्यात् तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम्॥

देहस्य जाम्बूनदेन सादृश्यादुपमा। सुभटशरीरे सुवर्णाचलशिलानिर्मितत्वस्य उत्प्रेक्षणात् क्रियोत्प्रेक्षा।

भावार्थः—(अपने चुलुक को ब्रह्माके देखने के) अनन्तर सुवर्णाचल (मेरुपर्वत) की शिलाओं से निर्माण किये हुए के समान दमकते जाम्बूनद नामक सुवर्ण के वर्ण की सी देह की कमनीय कान्ति से युक्त त्रिलोकी का संरक्षण करने में समर्थ ऐसा एक वीर पुरुष ब्रह्मा के चुलुक से प्रकट हुआ॥ ५५॥

प्रस्थाप्य शक्रं धृतिमान् भवेति हर्षाश्रुपारिप्लवदृक्सहस्रम्।
स शासनात्पङ्करुहासनस्य मरुद्विपक्षक्षयदीक्षितोऽभूत्॥ ५६॥

अन्वयः—(सः पङ्करुहासनस्य शासनात्) हर्षाश्रुपारिप्लवदृक्सहस्रं शक्रं धृतिमान् भव इति प्रस्थाप्य पङ्करुहासनस्य शासनाद् मरुद्विपक्षक्षयदीक्षितः, सः अभूत्।

व्याख्या—हर्षेति। सः=चालुक्यवंशमूलपुरुषः, पङ्करुहासनस्य ब्रह्मणः, शासनात् = आदेशात् हर्षादुद्गतैरश्रुभिः पारिप्लवं = चञ्चलं, दृशां सहस्रं यस्य तम् —हर्षाश्रुपारिप्लवदृक्सहस्रं = प्रमोदास्रचञ्चलनयनसहस्रम्। शक्रं = देवेन्द्रम्। धृतिमान्-धृतिः = धैर्यमस्ति अस्य सः—धैर्यवान्, भव। इतः परं मा भैषीः, मया ते विपक्षा हता एवेति धैर्यं कुर्वित्युक्त्वा। (तमिन्द्रम्) प्रस्थाप्य = सम्प्रेष्य, स्वराज्य इति शेषः। पङ्करुहासनस्य=कमलासनस्य शासनात्। मरुद्विपक्षक्षय-

दीक्षितः–मरुतां = देवानां, विपक्षाः शत्रवो दानवास्तेषां क्षये = नाशे, दीक्षितः = कृतप्रतिज्ञः [दीक्षा सञ्जातास्येत्यर्थे 'तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्' इतीतच्, दीक्षा = इतच्] अभूत् = बभूव । पङ्करुहासनस्य शासनादितिपदद्वयं देहलीदोपकन्यायेनोभयत्रान्वेति ।

भाषार्थः—(चालुक्यवंश के मूलपुरुष ने प्रकट होकर ब्रह्मदेव की आज्ञा से) आनन्दाश्रुओं के भर आने से तरल हो उठे सहस्र नयनों वाले इन्द्र को, 'धैर्य धारण करो' ऐसा कहकर विदा किया। और ब्रह्मा की आज्ञा पाकर उसने देवताओं के प्रतिपक्षी दानवों के नाश की प्रतिज्ञा की ॥ ५६ ॥

क्ष्माभृत्कुलानामुपरि प्रतिष्ठामवाप्य रत्नाकरभोगयोग्यः ।
क्रमेण तस्मादुदियाय वंशः शौरेः पदाद् गाङ्ग इव प्रवाहः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—क्ष्माभृत्कुलानामुपरि प्रतिष्ठामवाप्य रत्नाकरभोगयोग्यः शौरेः पदाद् गाङ्गः प्रवाह इव तस्मात् क्रमेण वंशः उदियाय ।

व्याख्या—क्ष्माभृदिति । क्ष्मां = पृथ्वीं, बिभ्रति = पोषयन्ति धारयन्ति च ते क्ष्माभृतः = पृथ्वीपालकाः पर्वता राजानश्च, तेषां कुलानि = समूहा वंशाश्च, तेषाम् । उपरि = मूर्धनि । प्रतिष्ठाम् = अवस्थितिं, गौरवम्, अवाप्य = सम्प्राप्य, लब्ध्वा वा । रत्नाकरः समुद्रस्तस्य भोगयोग्यः, अन्यत्र रत्नानामाकरः = समूहः, रत्नराशिरिति यावत्, तेषां भोगः = उपभोगस्तत्र योग्यः = उचितः । शूरस्यापत्यं पुमान् शौरिस्तस्य शौरेः = श्रीकृष्णस्य विष्णोरित्यर्थः । पदात् = चरणात् । गङ्गाया अयं गाङ्गः = गङ्गासम्बन्धी । ['तस्येदमि'त्यण्, गंगा + अण्] प्रवाह इव = धाराप्रवाह इव । तस्मात् = पुरुषात् । क्रमेण = क्रमशः । वंशः = चालुक्यान्ववायः । 'वंशोऽन्ववायः सन्तानः' इत्यमरः । उदियाय = उद्गतः । अत्र पूर्णोपमा ।

भाषार्थः—राजाओं के वंशों (पर्वतों के समूहों) पर गौरव (स्थिति) को प्राप्तकर रत्नाकर (रत्नों की राशि, समुद्र) के उपभोग योग्य हुए श्रीविष्णु के चरणारविन्द से निकले हुए गंगा-प्रवाह के सदृश यह चालुक्य वंश उस आदि पुरुष से क्रमशः प्रवृत्त हुआ ॥ ५७ ॥

विपक्षवीराद्भुतकीर्तिहारी हारीत इत्यादिपुमान् स यत्र ।
मानव्यनामा च बभूव मानी मानव्ययं यः कृतवानरीणाम् ॥ ५८ ॥

अन्वयः—यत्र आदिपुमान् यः मानी, अरीणां मानव्ययं कृतवान् सः, विपक्ष-वीराद्भुतकीर्तिहारी हारीत इति, मानव्यनामा च बभूव ।

व्याख्या—यत्रेति । यत्र = चालुक्यवंशे, आदिपुमान् = आदिपुरुषः, मानी = अभिमानी, अरीणां = शत्रूणाम्, मानव्ययं = गर्वनिरासम्, कृतवान् = व्यदधात् । सः, विपक्षवीराणाम् = अरिसुभटानाम्, अद्भुतां = विस्मयोत्पादिकाम्, कीर्त्तिहारी-कीर्तिं=यशः हरति, तच्छीलः । 'हारीत' इति नाम्ना प्रसिद्धः 'मानव्यनामा' = मानव्यगोत्रश्च बभूव = अभूत् ।

भाषार्थः—जिस चालुक्य-कुल में वह आदिपुरुष, शत्रुपक्ष के वीरों की विस्मयोत्पादिका कीर्ति को हर लेने के कारण 'हारीत' नाम से तथा शत्रुओं का मानभङ्ग करने के कारण 'मानव्य' गोत्र से प्रसिद्ध हुआ ॥ ५८ ॥

मीलद्विलासालकपल्लवानि विशीर्णपत्रावलिमण्डनानि ।
मुखानि वैरिप्रमदाजनस्य यद्भूपतीनां जगदुः प्रतापम् ॥ ५९ ॥

अन्वय—मीलद्विलासालकपल्लवानि विशीर्णपत्रावलिमण्डनानि वैरिप्रमदा-जनस्य मुखानि यद्भूपतीनां प्रतापं जगदुः ।

व्याख्या—मीलदिति । मीलद्विलासाः = पतिविरहाद्विलासहीनाः, अलक-पल्लवाः = केशपाशा येषु तानि । विशीर्णानि = जर्जरितानि म्लानानि वा, नष्टानीति यावत् पत्रावलिमण्डनानि = कुङ्कुमकस्तूरिकारागरञ्जितपत्रावलिभूषणानि, येषु तानि । वैरिप्रमदाजनस्य = विपक्षराजयुवतिसमूहस्य । मुखानि = वदनानि । यद्भूपातीनां= चालुक्यवंशोत्पन्नानां नृपाणाम् । प्रतापं = प्रभावम् । जगदुः = अगादिषुः ।

भाषार्थः—जिन राजाओं के प्रताप को, शत्रु-राजाओं की युवतियों के मुख ही बता रहे थे । जो मुख तैल, कंघी, पुष्पभूषणादि संस्कारों से शून्य हुए केश-पाशों से तथा केशर, कुंकुम कस्तूरी, गोरेचन आदि सुगन्धिद्रव्यों से विरचित पत्रावली आदि के रञ्जन की कला कौशल से रहित हो गये थे ॥ ५९ ॥

उत्खातविश्वोत्कटकण्टकानां यत्रोदितानां पृथिवीपतीनाम् ।
क्रीडागृहप्राङ्गणलीलयैव बभ्राम कीर्तिर्भुवनत्रयेऽपि ॥ ६० ॥

अन्वयः—यत्र उदितानाम् उत्खातविश्वोत्कटकण्टकानां पृथिवी-पतीनां कीर्तिः क्रीडागृहप्राङ्गणलीलयैव भुवनत्रये अपि बभ्राम ।

व्याख्या—यत्रेति । यत्र = चालुक्यवंशे, उदितानाम् = उत्पन्नानाम्, उत्खाताः = विनाशिताः, विश्वस्मिन् उत्कटाः = महान्तः, कण्टकाः = शत्रवः,—यैस्तेषाम् । पृथ्वीपतीनां = राज्ञाम्, कीर्तिः = यशः. भुवनत्रयेऽपि = लोकत्रयेऽपि, क्रीडागृहस्य = क्रीडागारस्य, यत् प्राङ्गणं = चत्वरम्, चतुःशालान्तर्गतं, तत्र या लीला = क्रीडा, तया । एव, बभ्राम = अञ्जसैव सर्वत्र प्रससारेत्यर्थः ।

भाषार्थः—जैसे खेल-खेल में ही आंगन में उत्पन्न कण्टकों को मनुष्य उखाड़ डालता है उसी प्रकार जिन्होंने, संसार को कष्ट पहुचाने वाले दुष्ट राजाओं को उखाड़ दिया ऐसे चालुक्यवंशीय राजाओं का यश, तीनों भुवनों में फैला ॥ ६१ ॥

यत्पार्थिवैः शत्रुकठोरकण्ठपीठास्थिनिर्लोठनकुण्ठधारः ।
निन्ये कृपाणः पटुतां तदीयकपालशाणोपलपट्टिकासु ॥ ६१ ॥

अन्वयः—यत्पार्थिवैः शत्रुकठोरकण्ठपीठास्थिनिर्लोठनकुण्ठधारः कृपाणः, तदीयकपालशाणोपलपट्टिकासु पटुतां निन्ये ।

व्याख्या—यदिति । यस्मिन् पार्थिवास्तैः-यत्पार्थिवैः = यद्वंशजैर्भूपतिभिः । शत्रूणां कठोरकण्ठास्तेषाम्पीठास्थीनि· तेषु-शत्रुकठोरकण्ठपीठास्थिषु = अरिपरुषगलाधारकीकसेषु, निर्लोठनेन = व्यापारेण, कुण्ठा = प्रतिहता, धारा = तीक्ष्णाग्रभागो यस्य सः । कृपाणः = खड्गः । तेषाम् इमानि—तदीयानि = शत्रुसम्बन्धीनि, कपालानि = शिरोस्थीनि एव शाणोपलपट्टिकाः = घर्षणपाषाणाः-तासु । पटुतां = तैक्ष्ण्यम् । निन्ये = नीतः । कपालपरिशाणोपलपट्टिकात्वारोपाद्रूपकम् । कण्ठे पीठाभेदाच्च रूपकम् ।

भाषार्थः—जिस चालुक्यवंश के राजाओं ने शत्रुओं के कठोर कण्ठों की आधारभूत अस्थियों पर (मेरुदण्ड पर) चलाने से कुण्ठित धारवाले कृपाण को उन्हीं के शिरोस्थिरूप साण के पाषाण पर घिसकर तीक्ष्ण बनाया ॥ ६१ ॥

युग्मम्

निरादरश्चन्द्रशिखामणौ यः प्रीतेऽपि लोकत्रितयैकवीरः ।
क्षिपन् कृपाणं दशमेऽपि मूर्ध्नि स्वयं धृतः क्ष्माधरराजपुत्र्या ॥ ६२ ॥

अन्वयः—लोकत्रितयैकवीरः चन्द्रशिखामणौ प्रीतेऽपि यः निरादरः दशमेऽपि मूर्ध्नि कृपाणं क्षिपन् स्वयं क्ष्माधरराजपुत्र्या धृतः ।

व्याख्या—लोकेति। त्रयोऽवयवा अस्येति-त्रितयम्, [त्रिशब्दात् 'संख्याया अवयवे तयप्' इति तयप्] लोकानां त्रितयं-तस्मिन्, एकश्चासौ वीरः-एकवीरः ['पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनव केवलाः समानाधिकरणेन' इति समासः]=लोकत्रितयैकवीरः = लोकत्रयाद्वितीयवीरः अनुपम इति यावत्। चन्द्रः शिखामणिर्यस्य-तस्मिन् चन्द्रशिखामणौ = चन्द्रशेखरे शिवे। प्रीतेऽपि = प्रसन्नेऽपि। यः=रावणः। निरादरः = अतृप्तः, असन्तुष्ट इति यावत्। अतएव, दशमेऽपि मूर्ध्नि = दशमसंख्याकेऽपि मस्तके। [दशानां-पूरणः-दशमः, अत्र दशन्शब्दात् 'तस्य पूरणे डट्' इति 'डट्' प्रत्ययः, 'नान्तादसंख्यादेर्मट्' इति डटो मडागमः, ततो नलोपः] कृपाणं=खड्गं। 'खड्गे तु-निस्त्रिंशचन्द्रहासासिरिष्टयः। कौक्षेयको मण्डलाग्रः करवालः कृपाणवत्' इत्यमरः। क्षिपन् = व्यापारयन्। स्वयं=स्वत एव। क्ष्माधराणां राजा-क्ष्माधरराजः, ['राजाहःसखिभ्यष्टच्' इति टच्, 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः] हिमालयः तस्य पुत्री तया-क्ष्माधरराजपुत्र्या = पर्वतराजकन्यया पार्वत्या। धृतः=गृहीतः, त्वमित्थं साहसं मा कुर्विति निवारित इत्यर्थः।

भाषार्थः—चन्द्रशेखर श्री शंकर के प्रसन्न होने पर भी सन्तोष को न पाकर अपने दसवें मस्तक पर खड्गप्रहार करते त्रिलोकी के अनुपम पराक्रमशाली वीर रावण को, पर्वतराजपुत्री पार्वती ने स्वयं पकड़ लिया। अर्थात् ऐसा साहस करने से रोका ॥ ६२ ॥

प्रसाध्य तं रावणमध्युवास यां मैथिलीशः कुलराजधानीम्।
ते क्षत्रियास्तामवदातकीर्तिं पुरीमयोध्यां विदधुर्निवासम् ॥ ६३ ॥

अन्वयः—मैथिलीशः तं रावणं प्रसाध्य यां कुलराजधानीम् अध्युवास, ते क्षत्रियाः अवदातकीर्तिं तामयोध्यां पुरीं निवासं विदधुः ॥

व्याख्या—मैथिलीति। मैथिल्याः = सीतायाः, ईशः =प्रभूरामचन्द्रः, तं= रावणं, पौलस्त्यमित्यर्थः। प्रसाध्य = विजित्य, यां कुलराजधानीं = सूर्यवंशक्षत्रियराजधानीम्। अध्युवास = न्यवात्सीत्। ['उपान्वध्याङ्वसः' इति कर्मत्वं कुलराजधानीमिति। यस्यां कुलराजधान्यां निवासं कृतवानित्यर्थः। ते = चालुक्यवंशोत्पन्नाः, क्षत्रियाः = राजन्याः ['क्षतात्त्रायते' इति क्षत्त्रः, तस्य जातौ भव इत्यर्थे 'क्षत्त्राद्घः' इति 'घ' प्रत्ययः, घस्य इयादेशः, 'आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्' इति सूत्रेण।] 'मूर्धाभिषिक्तो राजन्यो बाहुजः

क्षत्रियो विराट्' इत्यमरः। अवदाता कीर्तिर्यस्यास्ताम्-अवदातकीर्तिं = धवलयशसम्, 'अवदातः सितो गौरो धवलः' इत्यमरः। तां = प्रसिद्धामित्यर्थः। अयोध्यां पुरीं= नगरीम्, निवासं, विदधुः=चक्रुः, ते, अयोध्यां राजधानीं चक्रुरित्यर्थः।

भाषार्थः—उग्र पराक्रमशाली रावण को सीतापति भगवान राम ने जीतकर सूर्यवंशीय क्षत्रियों की जिस राजधानी अयोध्या में निवास किया था, उसी में चालुक्यवंशीय राजाओं ने भी निवास किया ॥ ६३ ॥

जिगीषवः केऽपि विजित्य विश्वं विलासदीक्षारसिकाः क्रमेण।
चक्रुः पदं नागरखण्डचुम्बि-पूगद्रुमायां दिशि दक्षिणस्याम् ॥ ६४ ॥

अन्वयः—जिगीषवः केऽपि विश्वं विजित्य क्रमेण विलासदीक्षारसिकाः नागरखण्डचुम्बि-पूगद्रुमायां दक्षिणस्यां दिशि पदं चक्रुः।

याम्या

व्याख्या—जिगीषव इति। जेतुमिच्छवः-जिगीषवः=विजयोत्सुकाः, [सन्नन्ताज्जिधातोः 'सनाशंसभिक्षउः' इति 'उ' प्रत्ययः] केऽपि=राजानः। विश्वं= भुवनं, विजित्य=वशीकृत्य [विजित्य-वि + जि + क्त्वाप्रत्ययस्तस्य स्थाने 'ल्यप्' आदेशः 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वोल्यप्' इति।] क्रमेण = अनुक्रमेण। विलासदीक्षायां रसिकाः-विलासदीक्षारसिकाः—शृंगारदीक्षानुरागिणः (सन्तः) नागरखण्डचुम्बिनः=नागवलीसंलग्नाः (परिवेष्टिताः) पूगद्रुमाः=क्रमुकवृक्षाः, यस्यान्तस्याम्। नागवल्ली (ताम्बूलवल्ली) अनेकधा, समुद्रतीरजा-वृक्षजा-कृष्णा-ताम्बूलवल्लीतिभेदात् सा हि वश्यकारिणी कफवातहा रुच्या, कामवर्धिका मुखाभरणकारिणी मुखशुद्धिकरी स्वरप्रदा। इति बहुगुणा, सा चात्र क्रमुकपदसान्निध्याद् 'विलासदीक्षारसिकाः' पदसान्निध्याच्च नागरशब्देन गृहीता, इति प्रतीयते नात्रकोषप्रामाण्यम्। नागरखण्डचुम्बि-विशेषणेन क्रमुकवृक्षाणामौन्नत्यं द्योतितमिति केचित्। नगरनिर्मितप्रासादभागचुम्बिनः पूगवृक्षा यत्रेत्यर्थः। [नगरे भवं नागरं 'तत्र भवः' इत्यण्, न अगं रातीति वा, नकारेण 'सुप्सुपे'ति समासः।] 'नागरं मुस्तके शुण्ठ्यां विदग्धे नगरोद्भवे' इति मेदिनी।

[पूगः पुनाति 'पूञ्' पवने ततो 'छापूखडिभ्यः कित्' इति 'गन्' प्रत्ययः] 'घोण्टा तु पूगः क्रमुको गुवाकः खपुरः' इत्यमरः, पूगः = सुपारीतिलोके। दक्षिणस्यां दिशि = याम्यां ककुभि, पदं चक्रुः = स्थानं कृतवन्तः, तत्र न्यवात्सुरित्यर्थः।

भावार्थः—विजिगीषु राजाओं ने विश्व की विजयकर क्रम से भोग-विलासादि सुखों का उपभोग करते हुए पान की लताओं से आलिंगित सुपारी के वृक्षों से सुशोभित दक्षिण दिशा में अपना निवास स्थान बनाया ॥ ६४ ॥

तदुद्भवै र्भूपतिभिः सलीलं चोलीरहःसाक्षिणि दक्षिणाब्धेः ।
करीन्द्रदन्ताङ्कुरलेखनीभिरलेखि कूले विजयप्रशस्तिः ॥ ६५ ॥

अन्वयः—तदुद्भवैः भूपतिभिः दक्षिणाब्धेः चोलीरहःसाक्षिणि कूले करीन्द्र-दन्ताङ्कुर-लेखनीभिः विजयप्रशस्तिः सलीलम् अलेखि ।

व्याख्या:—तेभ्यो = नृपेभ्यः उद्भवः उत्पत्तिर्येषान्तैस्तत्सन्तानैः । भूपतिभिः = पृथ्वीपालैः । दक्षिणाब्धेः = दक्षिणसागरस्य चोलीनां=चोलदेशाङ्गनानां अत्र काव्ये सर्वत्र चोल-द्रविडशब्दौ समानार्थकौ तथा च चोलीनां द्रविडाङ्गनानामित्यर्थः । रहः=एकान्तविलासस्तस्य साक्षिद्रष्टृ तस्मिन्, कूले=तटे, करीन्द्राणां = गजेन्द्राणां दन्ताङ्कुराः = दन्तप्ररोहा एव लेखन्यः = वर्णविन्यासासाधनानि-ताभिः । विजयप्रशस्तिः विजयप्रशंसा । सलीलं लीलया सह यथा स्यात् तथा । क्रियाविशेषणन्तत्र चक्लीवत्वादिकम्, यथाह—'द्वितीयान्तत्वकर्मत्वे क्लीवत्वञ्च तथैकता । क्रिया विशेषणस्यैवं मतं सूरिभिरादरात् ॥ अलेखि, कर्मणि लुङ् लिखिता ।

करीन्द्रदन्ताङ्कुरेषु लेखनीत्वारोपाद्रूपकालङ्कारः ।

भावार्थः—चालुक्यवंशीय राजाओं ने चोल देश की युवतियों के एकान्त विलास के साक्षी दक्षिण समुद्र के तटपर मदमत्त गजों की दन्तलेखनियों से अपनी विजय-प्रशस्ति सरलता से लिखी तात्पर्य-दक्षिण समुद्र के तटों तक चालुक्यों की सेना पहुँची थी और वहां पर सेना-गजों ने वप्रक्रीडा की थी यह ध्वनित होता है ॥ ६५ ॥

द्वीपक्षमापालपरम्पराणां दोर्विक्रमादुत्खननोन्मुखास्ते ।
विष्णोःप्रतिष्ठेति विभीषणस्य राज्ये परं संकुचिता बभूवुः ॥ ६६ ॥

अन्वयः—दोर्विक्रमाद् द्वीपक्षमापालपरम्पराणाम् उत्खननोन्मुखास्ते विभीषणस्य राज्ये विष्णोः प्रतिष्ठा इति परं सकुचिता बभूवुः ।

व्याख्या—दोष्णां = बाहूनां विक्रमः=पराक्रमस्तस्मात् । 'भुजबाहू-प्रवेष्टो-दोः' इत्यमरः । जलमध्ये स्वत उत्थितः समुच्छ्रितभूभागो द्वीपः 'द्वीपोऽस्त्रियाम-

न्तरीपं यदन्तर्वारिणस्तटम्' इत्यमरः। तत्र क्षमापालानां = भूपानाम् परम्पराः समूहास्तासाम्। उत्खनने = उद्धरणे, उन्मुखास्तत्पराः। ते = चालुक्यवंशजाः क्षत्रियाः, विभीषणस्य = रावणानुजस्य राज्ये = लंकायाम्, विष्णोः प्रतिष्ठा इति रामेण स्थापितमिति हेतोः, परं = केवलं, संकुचिता मन्दादराः, बभूवुः = अभूवन्।

भावार्थः—चालुक्य भूपालों ने अपने बाहु-पराक्रम से द्वीप-द्वीपान्तर के राजाओं को जीत लिया किन्तु विष्णु ने विभीषण के राज्य की प्रतिष्ठा की अतः लंका का राज्य छोड़ दिया। भगवान् पूर्ण पुरुषोत्तम, मानव-रूप से अवतीर्ण हुए दाशरथि श्रीरामचन्द्र ने उसकी स्थापना की है इस गौरव के रक्षणार्थ विभीषण के राज्य पर अपना अधिकार नहीं जमाया ॥ ६६ ॥

द्वीपेषु कर्पूर-पराग-पाण्डुष्वासाद्य लीलापरिवर्तनानि।
भ्रान्त्या तुषाराद्रितटे लुठन्तः शीतेन खिन्नास्तुरगा यदीयाः ॥६७॥

अन्वयः—यदीयास्तुरगाः कर्पूर-पराग पाण्डुषु द्वीपेषु लीलापरिवर्तनानि आसाद्य भ्रान्त्या तुषाराद्रितटे लुठन्तः शीतेन खिन्नाः (बभूवुः)।

व्याख्या—येषामिमे यदीयाः = चालुक्यराजसंबन्धिनः, तुरगाः = अश्वाः, कर्पूरपरागैः = घनसारक्षोदैः पाण्डुषु = धवलेषु, द्वीपेषु जलमध्ये स्वतःसमुत्थितसमुच्छ्रितभूभागेषु, लीलापरिवर्तनानि = सुखपरीवर्ताः लीलयांगलुठनानि, आसाद्य = कृत्वा। 'यदा ते हिमालयोपत्यकायामागतास्तदाहिमपाण्डुराणि तुषाराद्रितटानि निरीक्ष्य, भ्रान्त्या = धवलत्वात्कर्पूरभ्रमेण तुषाराद्रितटे = हिमाचलतटप्रदेशे, लुठन्तः = अङ्गपरिवर्तनानि कुर्वन्तः, शीतेन = हिमगुणेन, खिन्नास्त्रस्ता बभूवुः। तुषाराद्रितटे कर्पूरवच्छुभ्रवर्णद्वीपभ्रान्तिनिरूपणात भ्रान्तिमानलङ्कारः। 'साम्यादतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः। दक्षिणस्यांदिशि कर्पूरद्वीपो वर्तते। अत्र सप्तमसर्गस्थः श्लोकोऽपि द्रष्टव्यः।

तथाहि—

पौलस्त्योद्यानलीलाविटपितलमिलन्मैथिलीपादमुद्राः
कर्पूरद्वीपवेलाचलविपिनतटीपांसुकेलीरसज्ञाः।
क्रीडाताम्बूलचूर्णग्लपितमुखहृतक्लान्तयः केरलीना-
मामोदन्ते समीराः स्मरसुभटजयाकाङ्क्षिणो दाक्षिणात्याः ॥६८॥

भाषार्थः—चालुक्य राजाओं के अश्वों ने कपूर के चूर्ण से श्वेत कर्पूर द्वीप में सुखार्थ सानन्द लोट लगाई थी जब वे हिमालय के तट भाग में पहुँचे तब श्वेतत्व की भ्रान्ति से हिमालय के तट प्रदेश पर लोट लगाने के कारण शीत से पीड़ित हो गए ॥ ६७ ॥

इतः परं षड्भिस्तैलयं नृपं वर्णयति—

श्रीतैलपोनाम नृपः प्रतापी क्रमेण तद्वंशविशेषकोऽभूत् ।
क्षणेन यः शोणितपङ्कशेषं संख्ये द्विषां वीररसं चकार ॥ ६८ ॥

अन्वयः—प्रतापी श्रीतैलपोनामनृपः क्रमेण तद्वंशविशेषकः अभूत्, यः संख्ये क्षणेन द्विषां वीररसं शोणितपंकशेषं चकार ।

व्याख्या—प्रतापीति । प्रतापी = प्रतापः । 'स प्रभावः प्रतापश्च यत्तेजः कोषदण्डजम्' इत्यमरः । कोषदण्डजन्तेजः, अस्ति अस्य सः = प्रतापशाली । [प्रताप शब्दात् 'अत इनिठनौ' इति इन् प्रत्ययः] श्रीतैलपोनाम = नाम्ना श्रीतैलपो नृपः = मनुजेश्वरः । क्रमेण = अनुक्रमेण तद्वंशविशेषकः = चालुक्यकुलतिलकः । अभूत्= बभूव । यः = तैलपः । संख्ये=रणे । क्षणेन=मुहूर्तेन, उत्सवेन वा । 'निर्व्यापारस्थितौ काल विशेषोत्सवयोः क्षणः' इत्यमरः। द्विषां=शत्रूणां । वीराख्यं रसं जलं च। शोणितपङ्क एव शेषः=अवशेषो यस्य तम् । 'पङ्कोऽस्त्रीशादकर्दमौ' इत्यमरः । जले विलीने पङ्क एवावशिष्यत इत्यमरः । चकार=कृतवान् ।

भाषार्थ—कुछ समय के अनन्तर चालुक्य कुल का श्रेष्ठ पुरुष तैलप नाम का राजा हुआ । जिसने युद्ध में अल्प समय में ही शत्रुओं के वीर रस को शुष्ककर शोणित रूपी पंक (कीचड) को ही रहने दिया । रस = रस, और जल । जल, सूखने पर शेष कीचड ही रह जाता है । तात्पर्य यह है कि शत्रुओं का वीर रस नष्ट कर दिया ॥ ६९ ॥

विश्वंभराकण्टकराष्ट्रकूट समूल-निर्मूलनकोविदस्य ।
सुखेन यस्यान्तिकमाजगाम चालुक्यचन्द्रस्य नरेन्द्रलक्ष्मीः ॥ ६६ ॥

अन्वयः—चालुक्यचन्द्रस्य नरेन्द्रलक्ष्मीः विश्वंभराकण्टकराष्ट्रकूटसमूलनिर्मूलनकोविदस्य यस्य अन्तिकं सुखेन आजगाम ।

व्याख्या—चालुक्येति । चालुक्य चन्द्रस्य=चालुक्यश्चन्द्र इव, इति उपमानोत्तरपदसमासः । प्रजाह्लादकस्य । चौलुक्येति सुवचः पाठः । ['चुलुक यञ्, 'गर्गा-

दिभ्यो यञ्' इति 'यञ्' प्रत्यय स्तत आदिवृद्धिः] नरेन्द्रलक्ष्मीः = राजलक्ष्मीः । विश्वं बिभर्ति सा विश्वंभरा = पृथ्वी, तस्याः कण्टको यो राष्ट्रकूटः = वसुन्धरागत-जन-कष्टप्रदो राष्ट्रकूटनाम्ना राजवंशविशेषस्तस्य, समूलनिर्मूलने=समूलतयोद्धरणे, कोविदस्य = निपुणस्य । ['डुभृञ्' धारणपोषणयोः, ततः 'संज्ञायां भृतॄवृजिधारिसहितपिदिमः' इति खच् खित्वान्मुमागमः 'अरुर्द्विषदजन्तस्यमुम्' इति] यस्य=तैलपस्य । अन्तिकं=समीपे। सुखेन=अनायासेन ['प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' इति-तृतीया] आजगाम = आगता । यथा घर्मसन्तप्तजनतातापहारिणं सुधाकरं ज्योत्स्नाश्रीः स्वयमभिमुखी समागच्छति तथा लोककष्टद-राष्ट्रकूटनिर्मूलननिपुणं श्रीतैलपं राजलक्ष्मीः स्वयं संमुखी समायाता ।

भाषार्थः—पृथ्वी को कष्ट देनेवाले राष्ट्रकूटनामक राजवंश को समूलतया निर्मूल करनेमें निपुण जिस तैलप राज के समीप चालुक्य कुल की राजलक्ष्मी अनायास ही आ पहुँची ॥ ६९ ॥

शौर्योष्मणा स्विन्नकरस्य यस्य संख्येषु खड्गः प्रतिपक्षकालः ।
पुरन्दर - प्रेरित - पुष्पवृष्टि - पराग - सङ्घान्निबिडत्वमाप ॥ ७० ॥

अन्वयः—संख्येषु शौर्योष्मणा स्विन्नकरस्य यस्य प्रतिपक्षकालः खड्गः पुरन्दरप्रेरितपुष्पवृष्टिपरागसङ्घात् निबिडत्वम् आप ।

व्याख्या— संख्येष्विति । संख्येषु = सङ्ग्रामेषु । शौर्योष्मणा-शौर्यस्य = पौरुषस्य, ऊष्मा = गर्वस्तेन । स्विन्नः करो यस्य तस्य-स्विन्नकरस्य = स्वेदार्द्रहस्तस्य । यस्य = तैलपस्य । प्रतिपक्षाणाम् = अरीणां, कालः=यमः, मृत्युरिति यावत् । खड्गः= कृपाणः । पुरन्दरेण = इन्द्रेण, प्रेरिता = प्रवर्तिता, या पुष्पवृष्टिः=कुसुमवर्षा, तस्याः परागसङ्घात = किञ्जल्कसंबन्धात् निबिडत्वं = दृढत्वम् । आप=प्राप । शौर्ये ऊष्माऽभेदात्खड्गे प्रतिपक्षकालाऽभेदाच्च रूपकम् ।

भाषार्थः—युद्धोंमें पराक्रम की गरमी (गर्व) के पसीने से पसीजे हुए हाथों वाले जिस तैलपराज का कृपाण, जो शत्रुओं के लिये कालरूप था, वह इन्द्रने बरसाई पुष्पवृष्टि के पराग से दृढता को प्राप्त हुआ ॥ ७० ॥

यस्याञ्जनश्यामलखड्गपट्टजातानि जाने धवलत्वमापुः ।
अरातिनारीशरकाण्डपाण्डु-गण्डस्थलीनिर्लुठनाद्यशांसि ॥ ७१ ॥

अन्वयः—यस्य अञ्जनश्यामलखड्गपट्टजातानि यशांसि अरातिनारीशरकाण्डपाण्डुगण्डस्थलीनिर्लुठनात् धवलत्वम् आपुः (इति) जाने।

व्याख्या—यस्येति। यस्य=श्रीतैलपस्य राज्ञः। अञ्जन इव श्यामलः=(उपमानपूर्वपदकर्मधारयः) श्यामवर्णः, यः खड्गपट्टः=कृपाणस्तस्माज्जातानि, उत्पन्नानि, यशांसि (कर्तृ०) कीर्तयः। अरातीनामरीणां, नार्यः=सुन्दर्यस्तासां शरकाण्डवत्=गुन्द्रदण्ड इव 'गुन्द्रस्तेजनकः शरः' इत्यमरः। पाण्डवः=पाण्डुराः, या गण्डस्थल्यः=कपोलभागास्तासु निर्लुठनात्=परिवर्तनात्। धवलत्वं=श्वेतत्वम्। आपुः=प्रापुः। इत्यहं जाने=मन्ये। यशसां धवलत्वमिति कविसमयः। 'मालिन्यं व्योम्नि पापे यशसि धवलता वर्ण्यते हासकीर्त्योः' इति स्मरणात्। अञ्जनेन सह खड्गस्य श्यामलत्वेन सादृश्यदर्शनाद् गण्डस्थल्याः पाण्डुत्वेन शरकाण्डेन सादृश्याच्चोपमालङ्कारः।

भाषार्थः—जिस तैलपराज की कीर्तियां जो कज्जल के समान श्यामवर्ण के कृपाण से उत्पन्न हुई थीं, वे शत्रुओं की स्त्रियों के सरकण्डे के सदृश गौरवर्ण के कपोलों पर लुढ़कती रहने से श्वेतवर्ण हुईं ऐसा-प्रतीत हो रहा है ॥ ७१ ॥

स्फूर्जद्यशोहंसविलासपात्रं निस्त्रिंशनीलोत्पलमुत्प्रभं यः।
उत्तंसहेतो रिव वीरलक्ष्म्याः सङ्ग्रामलीला सरसश्चकर्ष ॥ ७२ ॥

अन्वयः—यः उत्प्रभं स्फूर्जद्यशोहंसविलासपात्रं निस्त्रिंशनीलोत्पलं संग्रामलीला-सरसः वीरलक्ष्म्याः उत्तंसहेतोः इव चकर्ष।

व्याख्या—य इति। यः=श्री तैलपः। उत्प्रभम्-उद्गता प्रभा यस्य तत्। [गोस्त्रियोरुपसर्जनस्येति ह्रस्वः] स्फूर्जतीति-स्फूर्जत्=[शतृ प्रत्ययान्तं] विलसद् यद् यशस्तदेव हंसस्तस्य विलासपात्रं=लीलास्थानम्। निर्गतस्त्रिंशद्भ्योऽङ्गुलिभ्यो निस्त्रिंशः, ['संख्यायास्तत्पुरुषस्य वाच्यः' इति संख्यान्ततत्पुरुषस्य समासान्तोऽच् प्रत्ययः। 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' इति पञ्चमीतत्पुरुषः ,=खड्गः, स एव नीलोत्पलन्तत्=करवालरूपं नीलकमलम्। सङ्ग्रामः=आयोधनम् एव लीलासरः=क्रीडासरोवरं, तस्मात्। वीरलक्ष्म्याः=वीरश्रियः, उत्तंसः=कर्णाभरणं तस्य हेतोः=कारणात् इव 'पुंस्युत्तंसावतंसौ द्वौ कर्णपूरे च शेखरे' इत्यमरः चकर्ष=उज्जहार। संग्रामे लीलासरोऽभेदः। यशसि हंसाऽभेदः, शुक्लत्वसाम्यात्। एतौ उभौ अभेदौ निस्त्रिंशाऽभेदापन्न-नीलोत्पले हंसविलासपात्रत्वारोपे कारणत्वेन स्वीकृताविति परम्परितरूपकम्। खड्गकर्षणे लक्ष्म्या उत्तंसकरणस्य हेतुत्वेनोत्प्रेक्षणात् हेतूत्प्रेक्षा।

भाषार्थः—जिस तैलपराज ने चारो ओर प्रसृत होनेवाले अपने यशरूपी हंस की क्रीडा का स्थान बने हुए और आसमन्तात् बिखरती हुई अपनी उज्ज्वल कान्ति से जगमगाने वाले खड्गरूपी नीलकमल को, युद्धरूपी क्रीडा-सरोवर से वीरश्री के कर्णाभूषण के लिये ही मानो खींच लिया ॥ ७२ ॥

विधाय सैन्यं युधि साक्षिमात्रं दासीकृतायाः प्रतिपक्षलक्ष्म्याः ।
यः प्रातिभाव्यार्थमिवाजुहाव महाभुजः शत्रुनरेन्द्रकीर्तिम् ॥७३॥

अन्वयः—महाभुजः यः युधि सैन्यं साक्षीमात्रं विधाय दासीकृतायाः प्रतिपक्षलक्ष्म्याः प्रातिभाव्यार्थमिव शत्रुनरेन्द्रकीर्तिम् आजुहाव ।

व्याख्या—महाभुज इति । महाभुजः = प्रलम्बबाहुः, [महान्तौ भुजौ यस्येति बहुव्रीहिः । 'आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः' इति महतस्तकारस्याकारः, सवर्णदीर्घः] यः = श्रीतैलपः । युधि = सङ्ग्रामे । सैन्यं=सेनां साक्षि एवेति-साक्षिमात्रं, [साक्षिमात्रमिति अवधारणोत्तरपदकर्मधारयः] 'मात्राकर्ण विभूषायां वित्ते माने परिच्छदे । अक्षरावयवे स्वल्पे क्लीवं कार्त्स्न्येऽवधारणे' इत्यमरः । विधाय= केवलं साक्षितामापाद्य, तत्सहायतां विनैवेत्यर्थः । अदासी, दासीकृता तस्या-दासीकृतायाः = दास्यतां नीतायाः । प्रतिपक्षलक्ष्म्याः = शत्रुराज्यश्रियः प्रातिभाव्यार्थं प्रतिभूः=प्रतिलग्नकः (जामिन इति लोके) तस्य भावः-प्रातिभाव्यं तदर्थमिव । शत्रुनरेन्द्राणां = प्रतिपक्षनृपालानां, कीर्तिं=यशः । आजुहाव = आकारयामास, स्वान्तिकमानिनायेत्यर्थः । [प्रातिभाव्यम्-प्रतिभूशब्दात् 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' इति ष्यञ्, ततो 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च' इति उभयपदवृद्धिः । शत्रुनरेन्द्रकीर्तेराह्वाने प्रातिभाव्यस्य फलत्वेनोत्प्रेक्षणात् उत्प्रेक्षा ॥ ७३ ॥

भाषार्थः—आजानुबाहु जिस तैलपराजने युद्धमें अपनी सेना को केवल साक्षी रखकर अर्थात् सेना की सहायता के बिना ही अपनी दासी बनाकर उपस्थित कराई हुई शत्रुओं की राजलक्ष्मी के उत्तरदायित्व (जामिन के रूपमें) के लिये ही मानो शत्रु राजाओं की कीर्ति को निमन्त्रित किया ॥ ७३ ॥

इतः परं पञ्चभिः सत्याश्रयं नृपं वर्णयति—

चालुक्यवंशामलमौक्तिकश्रीः सत्याश्रयोऽभूदथ भूमिपालः ।
खड्गेन यस्य भ्रुकुटिक्रुधेव द्विषां कपालान्यपि चूर्णितानि ॥ ७४ ॥

अन्वयः—अथ चालुक्यवंशामलमौक्तिकश्रीः सत्याश्रयः भूमिपालः अभूत्, यस्य भ्रुकुटिक्रुधा इव खड्गेन द्विषां कपालानि अपि चूर्णितानि ।

व्याख्या—अथेति । अथ=शत्रुश्रियोयशसश्चापहारानन्तरम् चालुक्यवंशामलमौक्तिकश्रीः-चालुक्यवंशेऽमलमौक्तिकस्य श्रीरिव श्रीर्यस्य सः । वंशः=कुलं, वेणुश्च । वेणूत्पन्ननिर्मलमौक्तिककान्तिश्चालुक्यकुलोत्पन्नः । सत्याश्रयनामा । भूमिपालः=पार्थिवः । अभूत्=बभूव । यस्य=सत्याश्रयनृपस्य । भ्रुकुटिभ्यां प्रकाशिताक्रुध्—तया-भ्रुकुटिक्रुधा=क्रोधादिना ललाटसंकोचनेनेव 'भ्रकुटिर्भ्रुकुटिर्भ्रूकुटिः स्त्रियाम्' इत्यमरः । 'कोपक्रोधामर्षरोषप्रतिघारुट्क्रुधौ स्त्रियाम्' इत्यमरः । खड्गेन=चन्द्रहासेन [खण्ड्यतेऽनेनेति खड्गः, 'खडि' भेदने धातोः 'छापूखडिभ्यः कित्' इति गन । आगमशास्त्रस्यानित्यत्वान्न नुम् ।] 'खड्गे तु निस्त्रिंशचन्द्रहासासिरिष्टयः । कौक्षेयको मण्डलाग्रः करवालः कृपाणवत्' इत्यमरः । द्विषां=शत्रूणां । कपालानि अपि चूर्णितानि=शिरोऽस्थिखण्डान्यपि क्षोदितानि । पेषितानीत्यर्थः । [चूर्ण-पेषणे] अत्र वक्रत्वेन नीलत्वेन च खड्गभ्रुकुटिक्रुधोः साम्यम् । खड्गोपरि भ्रुकुटिक्रोधस्योत्प्रेक्षणात् वस्तूत्प्रेक्षा । वंशे वेणुत्वारोपो, राजनि मौक्तिकत्वारोपे कारणमिति परम्परितरूपकम् ।

भाषार्थः—शत्रु राजाओं की श्री तथा कीर्ति का हरण हो जाने के बाद चालुक्यवंश (कुल-बांस) में निर्मल मोती की सी शोभा से भूषित सत्याश्रय नाम का राजा हुआ । जिसने भ्रुकुटि के क्रोध के समान अपने खड्ग से शत्रुओं के मस्तकों की हड्डियोंको भी चूरचूर कर दिया ॥ ७४ ॥

यस्येषवः संयुगयामिनीषु प्रोतप्रतिक्ष्मापतिमौलिरत्नाः ।
गृहीतदीपा इव विन्दते स्म खड्गान्धकारे रिपुचक्रवालम् ॥ ७५ ॥

अन्वयः—संयुगयामिनीषु प्रोतप्रतिक्ष्मापतिमौलिरत्नाः यस्य इषवः खड्गान्धकारे गृहीतदीपा इव रिपुचक्रवालं विन्दते स्म ।

व्याख्या—संयुगेति । संयुगा एव=युद्धान्येव, यामिन्यः=रात्रयस्तासु-संयुगयामिनीषु=युद्धात्मिकासु-रात्रिषु । प्रोतानि=विद्धानि (स्यूतानि) ['ऊयी' तन्तु-सन्ताने, ऊय्यन्ते स्मेति ऊतानि] प्रतिक्ष्मापतीनाम्=अरातिभूपालानां, मौलिरत्नानि=शिरोमणयो येषु, ते । यस्य=सत्याश्रयस्य । इषवः=बाणाः ।

'पृषत्कबाणविशिखा अजिह्मगखगाशुगाः। कलम्बमार्गणशराः पत्री रोप इषुर्द्वयोः' इत्यमरः। [ईष्यतेऽनेनेति इषुः, 'ईष' गतिहिंसादर्शनेषु, तत 'ईषेःकिच्च' इत्युः आदेरिच] खड्गान्धकारे = कृपाणध्वान्ते। गृहीता दीपा यैस्ते-गृहीतदीपाः = करधृत-प्रदीपा इव। रिपुचक्रवालम् = शत्रुमण्डलम्। विन्दतेस्म = विचारयन्तिस्म [विद् = विचारणे रुधाः प्रथमपुरुषस्य बहुवचनम्] यथाऽन्धकारे पदार्थान्वेषणाय गृहीतदीपाः सञ्चरन्ति, एवं कृपाणाघस्मरे जन्येऽस्य विद्धरत्ना बाणाः शत्रून् जानन्तिस्म मणिप्रकाशेनेत्यर्थः। अनुस्यूतराजमौलिरत्नेषु बाणेषु गृहीतदीपकत्वस्य संभावनादुत्प्रेक्षा।

भावार्थः—जिस प्रकार हाथ में दीप लिये हुए मनुष्य, अन्धेरे में स्थित पदार्थों को खोजते हैं, पहिचानते हैं, जानते हैं उसी प्रकार युद्धरूपी रात्रियों में शत्रुओं के मुकुटों में जटित रत्नों से विद्ध हुए, जिस सत्याश्रय राजा के बाण, कृपाणों से प्रवृत्त हुए अन्धकार में रत्नों के प्रकाश से शत्रुसमूह को पहिचानते थे ॥ ७५ ॥

अवन्ध्यपातानि रणाङ्गणेषु सलीलमाकृष्ट-धनुर्गुणस्य।
यस्या नमत्कोटितया व्यराजदस्त्राणि चुम्बन्निव चापदण्डः ॥ ७६ ॥

अन्वयः—रणाङ्गणेषु सलीलम् आकृष्टधनुर्गुणस्य यस्य चापदण्डः आनमत्कोटितया अवन्ध्यपातानि अस्त्राणि चुम्बन् इव व्यराजत्।

व्याख्या—रणेति। रणाङ्गणेषु=समराजिरेषु। सलीलं 'लीलया सह यथा स्यात् तथा' सहेलम्। आकृष्टः=आकर्णं नीतः धनुर्गुणः=चापप्रत्यञ्चा येन तस्य। यस्य=सत्याश्रयभूपालस्य। चापदण्डः = कोदण्डदण्डः। आनमन्त्यौ = प्रणिपतन्त्यौ कोटी = धनुष्कोणौ यस्य सः आनमत्कोटिस्तस्य भावस्तया, आनमत्कोटितया = अवनमत्कोणतया। 'अत्युत्कर्षाश्रयः कोटयः' इत्यमरः। 'कोटिः स्त्री धनुषोऽग्रेऽश्रौ संख्याभेद-प्रकर्षयोः' इति मेदिनी। अवन्ध्यः = सफलः, पातः=लक्ष्यपतनम् येषान्तानि, सिद्ध-शरव्याणि। अस्यन्ते इति तानि अस्त्राणि = इषून्। चुम्बन्निव = स्पृशन्निव। व्यराजत्=अशोभत।

चापदण्डे अस्त्रचुम्बनरूपक्रियाया उत्प्रेक्षणात् क्रियोत्प्रेक्षा।

भावार्थः—युद्ध भूमियों पर आकर्णान्त सहज ही में धनुष की प्रत्यचा को खींचनेवाले जिस सत्याश्रय का धनुर्दण्ड, अग्रभागों के झुक जाने के कारण

निशाने को अचूक वेधनेवाले बाणों को मानो चूमता हुआ ही शोभा दे रहा था ॥ ७६ ॥

भूभृत्सहस्रार्पितदेहरन्ध्रैः क्रौञ्चाचलच्छिद्रविशारदानाम् ।
सेहे न गर्वः पृथुसाहसस्य यस्येषुभिर्भार्गवमार्गणानाम् ॥ ७७ ॥

अन्वयः—पृथुसाहसस्य यस्य भूभृत्सहस्रार्पित-देहरन्ध्रैः इषुभिः क्रौञ्चाचलच्छिद्रविशारदानां भार्गवमार्गणानां गर्वः न सेहे ।

व्याख्या—पृथु = महत् साहसं दुष्करं कर्म 'सहसि बले भवं' ['तत्र भवः' इति अण् प्रत्ययः] यस्य तस्य, अलौकिकपराक्रमवतः । यस्य = सत्याश्रयस्य । भूभृतां-राज्ञां पर्वतानां च सहस्रं = अत्रापरिमितसंख्याबोधकः सहस्रशब्दः, तत्र अर्पितानि कृतानि देहरन्ध्राणि = शरीरछिद्राणि यैस्तैः भूभृत्सहस्रार्पितदेहरन्ध्रैः-विद्धासंख्यातनृपैः छिद्रितापरिमितपर्वतैश्च इषुभिः = बाणैः (कर्तृ) क्रौंचश्चासावचलश्च तस्मिन् छिद्रं तत्र विशारदानाम् , क्रौंचाचलछिद्रविशारदानां = क्रौंचाभिधपर्वतरन्ध्रसमर्थानाम् । मार्गणानां = बाणानाम् । गर्वः = अहंकारः । न सेहे = न असाहि (नसोढः) क्रौंचाचलो नाम पर्वतविशेषः यं परशुरामो विव्याध । उक्तञ्च कविकुलगुरुणा कालिदासेन 'हंसद्वारं भृगुपतियशोवर्त्म यत्क्रौंचरन्ध्रम्' इति मेघदूते । भार्गवपरशुरामेण केवलमेकस्मिन् क्रौंचभूभृति छिद्रं कृतमासीत , कन्त्वनेन अनेकेषु भूभृत्सु इति, तस्मादस्य वैशिष्ट्यम् अतो व्यतिरेको व्यङ्ग्यः ॥ ७७ ॥

भाषार्थः—महापराक्रमी जिस सत्याश्रयराजा के, हजारों भूभृतों (राजा और पर्वत) की देह में छिद्र करनेवाले बाणों ने एक क्रौंचपर्वत के भेदन करने में समर्थ परशुराम के बाणों का गर्व सहन नहीं किया । (परशुराम के बाणों ने केवल एक क्रौंच भूभृत (पर्वत) में छेद किया था किन्तु इसके बाणों ने हजारों भूभृतों (राजाओं) को छेद दिया, अतः इसका पराक्रम उससे अधिक महत्त्व का था) ॥ ७७ ॥

दृप्तारिदेहे समरोपमर्द-सूत्रावशेषस्थितहारदाम्नि ।
यज्ञोपवीतभ्रमतो बभूव यस्य प्रहर्तुः क्षणमन्तरायः ॥ ७८ ॥

अन्वयः—समरोपमर्दसूत्रावशेषस्थितहारदाम्नि दृप्तारिदेहे यज्ञोपवीतभ्रमतः यस्य प्रहर्तुः क्षणमन्तरायः बभूव ।

व्याख्या—समरे = संग्रामे उपमर्दः = सम्मर्दः संघर्ष इति यावत् तेन सूत्राव-

शेषं 'सूत्रमेवावशेषो यस्य तत्' स्थितं हारदाम = पुष्पहारो यस्मिन् तस्मिन्। दृप्तश्चासावरिश्च तस्य देहे=शरीरे = अवलिप्तारिकाये। यज्ञोपवीतस्य = यज्ञसूत्रस्य। भ्रमतः= भ्रान्त्या शरीरे सूत्रं दृष्ट्वा किमयं विप्र इति भ्रान्तेः ब्राह्मणश्चावध्य इति क्षणं किञ्चित्कालं प्रहारकरणे अन्तरायः = विघ्नः 'विघ्नोन्तरायः प्रत्यूहः' इत्यमरः। बभूव = अभुत्। हारसूत्रे यज्ञोपवीतस्य भ्रान्तिवर्णनाद् भ्रान्तिमानलङ्कारः।

भाषार्थः—सभर-संघर्ष में हार के रत्न झड़ जाने के कारण गर्विष्ठ शत्रुओं के देह पर सूत्र ही बच रहा, जिससे प्रहार करनेवाले सत्याश्रय को यज्ञोपवीत के भ्रम से क्षण भर तक रुकना पड़ा (यज्ञोपवीत की भ्रान्ति से उनमें ब्राह्मणत्व आभासित होता है जिससे उनकी अवध्यता प्रतीत होती है) ॥ ७८ ॥

'इतः परमष्टभिर्जयदेवनृपं वर्णयति'—

प्राप्तस्ततः श्री जयसिंहदेवश्चालुक्यसिंहासनमण्डनत्वम्।
यस्य व्यराजन्त गजाहवेषु मुक्ताफलानीव करे यशांसि ॥ ७९ ॥

अन्वयः—ततः श्रीजयसिंहदेवः चालुक्यसिंहासनमण्डनत्वं प्राप्तः गजाहवेषु यस्य करे मुक्ताफलानि यशांसि इव व्यराजन्त।

व्याख्या—ततः = सत्याश्रयनृपानंतरम् [श्रीजयसिंह-देवः=एतन्नामा नृपः। चालुक्यक्षत्रियराजसिंहासनभूषणत्वं प्राप्तवान्। श्रीसत्याश्रयादनन्तरं जयसिंहश्चालुक्यसिंहासनमलङ्कारेतिभावः। गजाहवेषु-हस्तिप्रधानेषु-रणेषु। यस्य = श्रीजयसिंहदेवस्य। करे = हस्ते। मुक्ताफलानि = मौक्तिकानि (कर्तृ) यशांसि-कीर्तय इव व्यराजन्त = अशोभन्त। शुक्लवर्णसादृश्यात् यशःसु मुक्ताफलत्वस्योत्प्रेक्षणात् उत्प्रेक्षा।

भाषार्थः—श्रीसत्याश्रय नृपके पश्चात् श्रीजयसिंह देव चालुक्यसिंहासन पर आरूढ हुए। हस्ति (प्रधान) युद्धों में जिस—जयसिंहदेव के हाथ में मोती, यश की तरह शोभा देते थे। 'युद्ध में जब जयसिंह देव ने (शत्रुओं के) हाथियों के मस्तक भग्न किए तब गजमस्तक स्थित मोती उछलकर इसके हाथ में आ गए मानो उन राजाओं के यश ही श्री जयसिंह के हाथ में आ गए' ॥ ७९ ॥

यस्य प्रतापेन कदर्थ्यमानाः प्रत्यर्थिभूपालमहामहिष्यः।
अन्वस्मरंश्चन्दनपङ्किलानि प्रियाङ्गपालीपरिवर्तनानि ॥ ८० ॥

अन्वयः—यस्य प्रतापेन कदर्थ्यमानाः प्रत्यर्थि-भूपाल-महामहिष्यः चन्दनपङ्किलानि प्रियाङ्कपालीपरिवर्तनानि अन्वस्मरन्।

व्याख्या—यस्येति। यस्य = जयसिंहदेवस्य। प्रतापेन = प्रभावेण, कोष-दण्डजेन तेजसा, प्रकृष्टेन तापेन च। कदर्थ्यन्ते इति कदर्थ्यमानाः = पीड्यमानाः। प्रत्यर्थि-भूपालानां = शत्रुनृपाणां, महामहिष्यः = कृताभिषेका राज्ञ्यः, सैरिभ्यश्च। चन्दनेन = हरिचन्दनेन, पङ्किलानि = लिप्तानि। प्रियाणां=भर्तॄणाम्, अङ्कः = क्रोडः, सान्निध्यञ्च, तस्य पाली = सीमा, पार्श्वभागश्च। आश्लेष इत्यर्थान्तरसङ्क्रमितन्तत्र परिवर्तनानि = परीवर्ताः। अन्वस्मरन् = स्मरन्तिस्म। अत्र महिषीशब्दस्य श्लिष्टत्वाद्यथामहिष्यो = ग्रीष्मे शीनलतालाभार्थं पङ्के लुठन्ति तथैव इमा राजस्त्रियः पराजयात् प्राक् शैत्यसुखार्थं स्वपत्यङ्कलिप्तचन्दनपङ्के लुठन्तिस्म। अत्र चिन्ता-मूलकस्य स्मरणस्य सद्भावान्न स्मरणालंकारः। यतः सादृश्यमूलकस्यैव तस्य अलङ्कारत्वम्।

भावार्थः—जिस जयसिंहदेव के प्रभाव से पीडित हुई शत्रुराजाओं की रानियां, अपने पतियों के चन्दन-चर्चित अंक अथवा सान्निध्य में होने वाली अपनी क्रीडाओं को अब केवल स्मरण किया करती थीं। अर्थात् प्रियालिङ्गन को याद करतीं थीं ॥ ८० ॥

प्रतापभानौ भजति प्रतिष्ठां यस्य प्रभातेष्विव संयुगेषु।
सूर्योपलानामिव पार्थिवानां केषां न तापः प्रकटीबभूव ॥ ८१ ॥

अन्वयः—यस्य प्रभातेषु इव संयुगेषु प्रतापभानौ प्रतिष्ठां भजति सूर्योपलानामिव केषां पार्थिवानां तापः न प्रकटीबभूव।

व्याख्या—यस्येति। यस्य = जयसिंहदेवस्य। प्रभातेष्विव = अहर्मुखेष्विव। संयुगेषु = सङ्ग्रामेषु। प्रतापो भानुरिव तस्मिन्। अन्यत्र-प्रकृष्टस्तापो यस्य सः प्रतापः, स चासौ भानुश्च-प्रतापभानुस्तस्मिन् ['यस्य च भावेन भावलक्षणम्' इति सप्तमी] प्रतिष्ठां = गौरवं। भजति = प्राप्ते सति। सूर्योपलानां = सूर्यकान्तम-णीनामिव। केषां पार्थिवानां = राज्ञां। तापः = अन्तर्दाहः, उष्णत्वञ्च। न प्रकटी-बभूव। अपि तु सर्वेषामपि तापो व्यक्तोऽभूत्। अत्र प्रतापे भानुत्वारोपात् रूपकम्। प्रभातसंयुगयोः सूर्योपलपार्थिवयोश्चोपमा। केषां न प्रकटीबभूवेत्यर्थापत्तिश्चेति परस्प-रसापेक्षत्वादेषां सङ्करः।

भावार्थः—प्रातःकालिक सूर्य के समान, युद्धों में जिस जयसिंहदेव के प्रताप की धाक बैठने पर (तीव्र चमकने पर) सूर्यकान्तमणि के सदृश, किन राजाओं में अन्तर्दाह नहीं प्रकट हुआ? अर्थात् सभी राजा लोग इसके प्रताप को देखकर मन ही मन सन्तप्त होने लगे ॥ ८१ ॥

यात्रासु यस्य ध्वजिनीभरेण दोलायमाना सकला धरित्री ।
आर्द्रव्रणाधिष्ठितपृष्ठपीठमकर्मठं कूर्मपतिं चकार ॥ ८२ ॥

अन्वयः—यस्य यात्रासु ध्वजिनीभरेण दोलायमाना सकला धरित्री कूर्मपतिं आर्द्रव्रणाधिष्ठितपृष्ठपीठम् अकर्मठं चकार ।

व्याख्या—यस्येति । यस्य = जयसिंहदेवस्य । यात्रासु = विजययात्रासु । ध्वजिनीभरेण = सेनाभरेण, दोलायतेऽसौ–दोलायमाना = कम्पमाना । सकला = सम्पूर्णा । धरित्री = भूमिः । कूर्मपतिं = कच्छपम्, (उद्देश्यमिदम्) । आर्द्रो यो व्रणस्तेनाधिष्ठितं = युक्तं, पृष्ठपीठं = पृष्ठभूभागो यस्य तम्, अतएव अकर्मठं=अकर्मशीलं । चकार = कृतवान् ।

भावार्थ—जिस जयसिंहदेव की विजय-यात्राओं में सेना के भार से काँपने वाली पृथ्वी ने कूर्मराज को उसके पीठ पर स्थित व्रण (घाव) के पुनश्च नवीन हो जाने से काम करने के अयोग्य कर दिया ॥ ८२ ॥

किरीटमाणिक्यमरीचिवीचि-प्रच्छादिता यस्य विपक्षभूपाः ।
चिताग्निभीत्या समराङ्गणेषु न सङ्गृहीताः सहसा शिवाभिः ॥ ८३ ॥

अन्वयः—यस्य विपक्षभूपाः किरीटमाणिक्यमरीचिवीचिप्रच्छादिताः समराङ्गणेषु चिताग्निभीत्या शिवाभिः सहसा न सङ्गृहीताः ।

व्याख्या—यस्येति । यस्य = जयसिंहदेवस्य । विपक्षभूपाः = शत्रुराजानः । किरीटेषु = मुकुटेषु, माणिक्यानि = रत्नानि, तेषां मरीचिवीचयः=किरणवलयस्ताभिः प्रच्छादिताः = आवृताः । समराङ्गणेषु = युद्धभाङ्गणेषु । चिताग्निभीत्या = चितिवह्निभयेन । 'चिता चित्या चितिः स्त्रियाम्' इत्यमरः । शिवाभिः = क्रोष्ट्रीभिः । 'स्त्रियां शिवा भूरिमायगोमायुमृगधूर्तकाः । शृगालवञ्चकक्रोष्टुफेरुफेरवजम्बुकाः ।' इत्यमरः । सहसा = प्रसह्य । न सङ्गृहीताः = नाकर्षिताः । किरीटस्थितमाणिक्यप्रभां दृष्ट्वा चिताग्निरयमिति भीत्या सहसा तान् खादितुं न प्रवृत्ताः । माणिक्यमरीचिषु चिताग्निप्रतिपादनाद् भ्रान्तिमानलङ्कारोऽव्यङ्ग्यः ।

भाषार्थः—जिस जयसिंहदेव से मारे गये शत्रुपक्षीय राजाओं के शवों को, उनके मुकुटों में जडे हुए रत्नों की किरणों से वे आच्छादित रहने से युद्ध-भूमियों में शृगालियां (रत्न की किरणों में) चिताग्नि के भ्रम से भयभीत होकर उनके भक्षणार्थ सहसा प्रवृत्त नहीं होती थीं ॥ ८३ ॥

यात्रासु दिक्पालपुरीं विलुण्ठ्य न दिग्गजान् केवलमग्रहीद्यः ।
पलायितास्ते जयसिन्धुराणां गन्धेन सप्तच्छदबान्धवेन ॥ ८४ ॥

अन्वयः—यः यात्रासु दिक्पालपुरीं विलुण्ठ्य केवलं दिग्गजान् न अग्रहीत्, ते जयसिन्धुराणां सप्तच्छदबान्धवेन गन्धेन पलायिताः ।

व्याख्या—य इति । यः = जयसिंहदेवः । यात्रासु = विजयोद्यमेषु । दिक्-पालपुरीं = दिक्पालनगरीं । विलुण्ठ्य = सर्वस्वमपहृत्य । केवलं, दिग्गजान् = दिग्गजेन्द्रान् । न अग्रहीत् = न संयतानकरोत् , यतः, ते = दिग्गजाः जयसिन्धु-राणां=गन्धगजानां । सप्तच्छदः = सप्तच्छदनामधेयो वृक्षविशेषस्तस्य बान्धवेन = सदृशेन, गन्धेन = मदसौरभेण । पलायिताः = प्रद्रुताः । 'सप्तपर्णो विशालत्वक् शारदो विषमच्छदः' इत्यमरः ।

भाषार्थः—जिस जयसिंहदेव ने अपनी विजय-यात्राओं में दिक्पालों की नगरी का सर्वस्व अपहरण कर लिया केवल दिग्गजों का अपहरण नहीं किया, क्योंकि वे दिग्गज, जयसिंहदेव के गन्धगजों की सप्तच्छद के तुल्य मदसुगन्धि से ही भाग चुके थे ॥ ८४ ॥

अपारवीरव्रतपारगस्य पराङ्मुखा एव सदा विपक्षाः ।
अधिज्यचापस्य रणेषु यस्य यशः परं सम्मुखमाजगाम ॥ ८५ ॥

अन्वयः—अपारवीरव्रतपारगस्य विपक्षाः सदा पराङ्मुखा एव, परं रणेषु अधिज्यचापस्य यस्य यशः सम्मुखम् आजगाम ।

व्याख्या—अपारेति । अपारं = निर्मर्यादम् , अतिदुष्करमित्यर्थः । यद् वीरव्रतं = वीरकर्तव्यं, तत्र पारगः = पारङ्गतस्तस्य । विपक्षाः = शत्रवः । सदा = सर्वदा [सर्वस्मिन् काले-सदा, अत्र सर्वशब्दात् 'सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा' इति 'दा' प्रत्ययः, 'सर्वस्य सोऽन्यतरस्यांदि' इति सर्वप्रकृतेः सभावविकल्पः, अतः सदा-सर्वदा, इति रूपद्वयम्] पराङ्मुखाः = विमुखा एव । परं = केवलं । रणेषु=

सङ्ग्रामेषु । ज्यां = मौर्वीम् अधिगतः, चापः = धनुः, यस्य तस्य—अधिज्यचापस्य = आरूढमौर्वीककार्मुकस्य । यस्य = जयसिंहदेवस्य । यशः = कीर्तिः । सम्मुखम् = अभिमुखम् । आजगाम = आगता ।

भावार्थः—जयसिंहदेवराज सदैव अतिदुष्कर वीरोचित कर्तव्य के पालन करनेमें तत्पर रहा करते थे, जिससे उनके शत्रुपक्षीय राजवृन्द (समूह) सर्वदा उनसे पराङ्मुख ही रहते थे, संग्रामों में सुसज्जित धनुष धारण किये हुए उसके सम्मुख केवल उसकी कीर्ति ही आती थी ॥ ८५ ॥

यशोवतंसं नगरं सुराणां कुर्वन्नगर्वः समरोत्सवेषु ।
न्यस्तां स्वहस्तेन पुरन्दरस्य यः पारिजातस्रजमाससाद ॥ ८६ ॥

अन्वयः—समरोत्सवेषु सुराणां नगरं यशोवतंसं कुर्वन् (स्वयम्) अगर्वः यः पुरन्दरस्य स्वहस्तेन न्यस्तां पारिजातस्रजम् आससाद ।

व्याख्या—समरोत्सवेषु = सङ्ग्रामेषु । सुराणां = देवानां । 'अमरा निर्जरा देवास्त्रिदशा विबुधाः सुराः' इत्यमरः । नगरम् = इन्द्रपुरीं । यशोवतंसं = निजकीर्तिभूषितं । कुर्वन् = विदधत् । [कृ + शतृ] तथापि स्वयं, न विद्यते गर्वो यस्य सः—अगर्वः = दर्परहितः, अहङ्काररहित इति यावत् 'गर्वोऽभिमानोऽहङ्कारः' इत्यमरः । यः = जयसिंहदेवः । पुरन्दरस्य=देवराजस्य । स्वहस्तेन = निजकरेण । न्यस्तां=समर्पितां । पारिजातस्रजं=कल्पपादपकुसुममालाम् । आससाद=प्राप्तवान् ।

भाषार्थः—संग्रामों में देवताओं की पुरी इन्द्रनगरी को अपनी कीर्ति से विभूषित किया तथापि जिसे किसी प्रकार का गर्व उत्पन्न नहीं हुआ, ऐसे जयसिंहदेव के कण्ठ में देवराज इन्द्र ने स्वयं अपने हाथों से पुष्पमाला अर्पित की ॥ ८६ ॥

सर्गान्तमाहवमल्लदेवं वर्णयति—

तस्मादभूदाहवमल्लदेवस्त्रैलोक्यमल्लापरनामधेयः ।
यन्मण्डलाग्रं न मुमोच लक्ष्मीर्धाराजलोत्था जलमानुषीव ॥८७॥

अन्वयः—तस्मात् त्रैलोक्यमल्लापरनामधेयः आहवमल्लदेवः अभूत्, लक्ष्मीः यन्मण्डलाग्रं धाराजलोत्था जलमानुषीव न मुमोच ।

व्याख्या—तस्मादिति । तस्मात्=जयसिंहदेवात् । 'त्रैलोक्यमल्ल' इत्यपरना-

मधेयं यस्य सः । आहवमल्लदेवः=आहवमल्लदेवनामा । नृपः=राजा । अभूत्=बभूव । लक्ष्मीः = राजलक्ष्मीः, यस्य = आहवमल्लदेवस्य, मण्डलाग्रं=खड्गं धाराजलात्=कृपाणधाराजलात् , उत्था=उत्पन्ना । जलमानुषीव, न मुमोच=न तत्याज । यथा जलोत्पन्ना मानुषी जलं न जहाति, एवं कृपाणप्रभावसंपादिताराजलक्ष्मीराहवमल्लदेवस्य कृपाणं न मुमोच, तमेव सिषेवे, इति भावः । [त्रयश्च ते लोका त्रिलोकास्ते एव-त्रैलोक्यम् । अत्र 'चतुर्वर्णादीनां स्वार्थे उपसंख्यानम्' इति ष्यञ् , 'तद्धितेष्वचामादेः' इत्यादिवृद्धिः] धाराजलोत्थलक्ष्म्या जलमानुषीसादृश्यप्रतिपादनादुपमालङ्कारः ।

भाषार्थः—उस जयसिंह देव से आहवमल्लदेव राजा (उत्पन्न) हुए, जिनका दूसरा नाम त्रैलोक्यमल्ल भी था । धाराजल (कृपाणधारा, जलप्रवाह) से उत्पन्न हुई जलमानुषी के समान, राजलक्ष्मी जिसके खड्ग का कभी त्याग नहीं करती थी ॥ ८७ ॥

X **आख्यायिकासीम्नि कथाद्भुतेषु यः सर्गबन्धे दशरूपके च ।**
पवित्रचारित्रतया कवीन्द्रैरारोपितो राम इति द्वितीयः ॥ ८८ ॥

अन्वयः—कवीन्द्रैः आख्यायिकासीम्नि कथाद्भुतेषु सर्गबन्धे दशरूपके च पवित्रचारित्रतया द्वितीयः राम इति यः आरोपितः ।

व्याख्या—कवीन्द्रैः=महाकविभिः । आख्यायिका सीम्नि=ज्ञातसत्यार्थासु कथासु । कथाद्भुतेषु = प्रबन्धरचनासु, स्तोकसत्यासु कथासु सर्गबन्धे=महाकाव्ये । दशरूपके=दशविधेनाट्ये । 'नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः । व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा' इति भेदान्नाट्यस्य दशविधत्वम् । पवित्रचारित्रतया पवित्रं, चरित्रमेव चारित्रं, तस्य भावस्तया = पूताचारतया, सच्चरित्रतयेत्यर्थः । द्वितायः, रामः=दाशरथो राघव, इति=निदर्शनेऽर्थे 'इति प्रकरणे हेतौ प्रकाशादिसमाप्तिषु । निदर्शने प्रकारे स्यादनुकर्षे च सम्मतम्' इति विश्वः । यः = आहवमल्लदेवः । आरोपितः = उदाहरणत्वेन गृहीतः । यद्वा—"श्रीरामो दाशरथिः पूताचारतया महाविष्णोः पूर्णावतार इति, न संभवति देवांशैर्विना पूताचारता । तस्य हि एकवचनपालनत्वम्, अमोघास्त्रत्वम् , एकपत्नीव्रतत्वं, शरणागतसंरक्षणमित्यादयो विदिता एव पूताचाराः । अतः कवीन्द्रैर्वाल्मीक्यादिभिर्महतीषु कथासु, आश्चर्योत्पादिकासु कथासु, सृष्ट्यादिषु, दशावतारेषु वर्णितस्तथैवायमाहवमल्लदेवोऽपि महाराजो 'ना विष्णुः पृथ्वीपति'रिति पवित्रचारित्रतया महतीषु कथासु

विस्मयोत्पादकेषु, कथाचमत्कारेषु, राज्यकार्यरचनादिषु, दशदिक्पालस्वरूपेषु राज्ञो हि कार्याण्यनुरुध्य विविधानिरूपाणि भवन्तीति प्रसिद्धमेव। १–कण्टकोद्धरणायेन्द्ररूपं धारयति, स्वप्रभुत्वेन कण्टकान् शोधयति, स्वदेशस्थितान् सत्पुरुषानभिलषितार्थैश्च पूरयति।

२–प्रजाभ्यः करग्रहणे ता अपीडयित्वा गृह्णाति करान्, यथा सूर्यो रश्मिभिः स्तोकं स्तोकं रसमीषत्तापेनादत्ते। ३–चिकीर्षितार्थज्ञानाय चारद्वारेण स्वपरमण्डलजालेषु प्रविश्य सर्वं विजानाति तदर्थं वायुरूपं धारयति, यथा च वायुः सर्वं जन्तुष्वन्तः प्रविश्य विचरति। ४–अपराधकाले रागद्वेषपरिहारेण प्रियद्वेष्ययोः शासनार्थं यमरूपं धारयति। ५–पापकारिणो रज्जुभिर्निबद्धा एव दृश्यन्ते, तदर्थं वरुणरूपं धारयति, यथा हि वरुणोऽशङ्कितः पाशैर्बध्नाति। ६–प्रजारञ्जनार्थं चन्द्ररूपं धारयति। ७–प्रतिकूलानां दुष्टसामन्तानाममात्यादीनां च हिंसनेऽग्निरूपं धारयति। ८–सर्वासां प्रजानां स्थावरजङ्गमानामुत्कृष्टापकृष्टानां रङ्काणां धनिनां गुणवतां तदितराणां च दीनानाथादिसर्वभूतानां रक्षणादिना सामान्येन धारयतीत्येतदेवास्य पार्थिवं रूपम्। ९-यदस्य पावकत्वं, यच्चास्यादेशेन पापिनोऽपि पूता भवन्ति तदस्य विष्णुरूपम्। १०–कोऽपि अस्य बलस्य सीमानं न विजानीयादेतदर्थमयमनन्तरूपं धारयतीत्थमस्य दशरूपेषु निरूपणं क्रियते। इत्येवं प्रकारेण द्वितीयो राम इति कवीन्द्रैर्गृहीतः। 'यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत्सा निदर्शना' अत्र निदर्शनालङ्कारः।

भाषार्थः—महाकवियों ने, ज्ञातसत्यार्थ कथाओं में, प्रबन्ध कल्पनाओं में, महाकाव्यों में, नाटकादिरूपक भेदों में जिस आहवमल्लदेव को उसकी पवित्र आचरणशीलता के कारण दूसरे दाशरथि रामचन्द्र के ही रूप में उदाहरणार्थ स्वीकृत किया है। महाकवियोंने इसके विषय में अनेक ग्रन्थ लिखे हैं—यह सूचित होता है ॥ ८८ ॥

भूपेषु कूपेष्विव रिक्तभावं कृत्वा प्रपापालिकयेव यस्य।
वीरश्रिया कीर्तिसुधारसस्य दिशां मुखानि प्रणयीकृतानि ॥८९॥

अन्वयः—प्रपापालिकया इव यस्य वीरश्रिया कूपेषु इव भूपेषु कीर्तिसुधारसस्य रिक्तभावं कृत्वा दिशां मुखानि प्रणयीकृतानि।

व्याख्या—प्रपेति। प्रपापालिकया = पानीयशालायां नियुक्तयास्त्रिया इव

यस्य—आहवमल्लदेवस्य । वीरश्रिया = युद्धशौण्डीर्यलक्ष्म्या । कूपेष्विव = अन्धुष्विव । 'पुंस्येवान्धुः प्रहिः कूप' इत्यमरः । भूपेषु = राजसु । 'राज्ञि राट्पार्थिवक्ष्माभृन्नृपभूपमहीक्षितः' इत्यमरः । कीर्तिरिवातिनिर्मलः, सुधा = स्वादुः—यो रसः = जलं तस्य । अन्यत्र—कीर्तिरसस्य, रिक्तभावं = रिक्तत्वं । कृत्वा=सम्पाद्य । दिशां = हरितां । 'दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः' इत्यमरः । मुखानि = अग्रभागाः, आननानि च कीर्तिसुधारसस्य देहलीदीपकन्यायेनोभयत्र पदमेतत्संबध्यते । प्रणयीकृतानि = प्रेमास्पदीकृतानि च । सर्वासु दिक्षु तस्य वीरलक्ष्मीः तत्कीर्तिसुधां प्रथितवतीत्यर्थः । वीरश्रिया प्रपापालिकासादृश्यात्, भूपेषु कूपसादृश्याच्चोपमालङ्कारः । दिगन्तविश्रान्तकीर्तिरसौ वीर इति तात्पर्यम् ।

भाषार्थः—जिस प्रकार प्याऊ पर पानी पिलानेवाली स्त्री कूओं को जल से रिक्त कर तृषितों को पानी पिलाकर प्रसन्न कर देती है उसी तरह जिस आहव मल्लदेव की वीरश्री ने राजाओं को उनकी कीर्ति से रिक्तकर (खाली कर) दिशाओं के प्रधान भागों को अपनी कीर्ति सुधा के रस को पिलाकर स्नेहपात्र बनाया ॥८९॥

कौक्षेयकः क्ष्मातिलकस्य यस्य पीत्वातिमात्रं द्विषतां प्रतापम् ।
आलोड्य बाष्पाम्बुभिराचचाम चोलीकपोलस्थलचन्दनानि ॥९०॥

अन्वयः—क्ष्मातिलकस्य यस्य कौक्षेयकः द्विषतां प्रतापम् अतिमात्रं पीत्वा चोलीकपोलस्थलचन्दनानि बाष्पाम्बुभिः आलोड्य आचचाम ।

व्याख्या—क्ष्मातिलकस्य = भूविशेषकस्य । 'तिलको द्रुमरोगाश्वभेदेषु तिलकालके । क्लीबं सौवर्चलक्लोम्नोर्न स्त्रियान्तु विशेषके' इति मेदिनी ॥ यस्य=आहवमल्लदेवस्य । कौक्षेयकः [कुक्षौ भवः 'कुल कुक्षि ग्रीवाभ्यः श्वास्यलङ्कारेषु' इति कुक्षिशब्दाद् ढकञ्] कृपाणः । द्विषतां = शत्रूणाम् । प्रतापं प्रभावम् अन्यत्र प्रकृष्टन्तापम् । अतिमात्रं मात्रामतिक्रान्तम् 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इति ह्रस्वः यथेष्टम् । 'अतिमात्रोद्गाढनिर्भरम्' इत्यमरः । पीत्वा=प्राश्य । चोलीनां = चोलदेशाङ्गनानाम्, कपोलस्थलेषु गण्डभागेषु चन्दनानि हरिचन्दनानि, हरिचन्दनकृतपत्रावलीरित्यर्थः । बाष्पाम्बुभिः = चोलीनामेवास्रजलैः । आलोड्य = निर्मथ्य । आचचाम = पपौ । कृपाणः प्रतापोष्मणः शान्त्यर्थं चोलस्त्रीबाष्पाम्बुमिश्रितचन्दनं पीतवान् । कश्चिदुष्णतानिवारणाय चन्दनमिश्रितं जलं शैत्याय सेवत इति अप्रकृतव्यवहारस्य कृपाण-

व्यवहारे समारोपात् समासोक्तिरलङ्कारः। तथाहि—'समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्ग-विशेषणैः। व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः।'

भाषार्थः—पृथ्वीपति आहवमल्लदेव के कृपाण ने, शत्रुओं के प्रताप को यथेष्ट पीकर चोलस्त्रियों के कपोलों पर चन्दनादि सुगन्धि द्रव्यों से निर्मित पत्रावली-मंजरी आदि शोभा-चिह्नों को उन्हीं के अश्रुजलों से मिलाकर पुनः पान किया ॥ ९० ॥

दीप्र-प्रतापानल-सन्निधानाद् विभ्रत् पिपासामिव यत्कृपाणः।
प्रमार-पृथ्वीपति-कीर्तिधारां धारामुदारां कवलीचकार ॥ ९१ ॥

अन्वयः—यत्कृपाणः दीप्र-प्रतापानल-सन्निधानात् पिपासाम् इव बिभ्रत् प्रमार-पृथ्वीपति-कीर्तिधाराम् उदारां धारां-कवलीचकार।

व्याख्या—यस्य कृपाणः यत्कृपाणः=आहवमल्लदेवखड्गः दीप्यते इति दीप्रः। [दीपी दीप्तौ दीप्+रः 'नमि कम्पि-स्म्यजस-कम-हिंसदीपो रः' इति ताच्छील्यार्थे 'र' प्रत्ययः] दीप्तिमान, प्रताप एव अनलः=अग्निस्तस्य सन्निधानात्=सामीप्यात्। पिपासाम्। [पातेः सन्नतात् स्त्रियां 'अप्रत्ययात्' इति 'अ' प्रत्ययः] पातुमिच्छाम् 'उदन्या तु पिपासा तृट् तर्षः' इत्यमरः। उदन्याम् इव। बिभ्रत्=धारयन्। प्रमारः "परमार इति वंशविशेषः यत्र भोजो जन्मलेभे' तद्वंशीयपृथ्वीपतेर्भूपालस्य कीर्ति-धारां यशःप्रवाहम्। उदारां=स्वगुणैः प्रसिद्धां धारां=भोजराजधानीं कवली-चकार=जग्रास। आत्मसादकरोदित्यर्थः [अकवलं कवलं चकारेति 'अभूतत-द्भावेऽर्थे च्विप्रत्यः 'कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः' इति कृयोगे कवलशब्दात् 'च्वि' प्रत्ययः 'अस्य च्वौ' इति लकारोत्तरवर्त्यकारस्य 'ई' आदेशः च्व्यन्तत्वाद-व्ययत्वम्। धाराशब्देनोभयार्थबोधनात् श्लेषालङ्कारः। धाराकवलीकरणे प्रतापान-लसन्निधानप्रयुक्तपिपासाधारणस्य हेतुत्वेनोत्प्रेक्षणात् हेतूत्प्रेक्षा।

भाषार्थः—जिस आहवमल्लदेवके खड्ग ने प्रज्वलित प्रतापरूप अग्नि के समीप होने के कारण तृषित होकर ही मानो परमार-वंशीय राजा की स्वकीय गुणों से प्रसिद्ध तथा कीर्तिप्रवाहरूप धारा नगरी को पान कर लिया (अपने आधीन कर लिया) ॥ ९१ ॥

अगाधपानीयनिमग्नभूमि-भूभृत्कुटुम्बोऽपि यदीयखड्गः।
भाग्यक्षयान्मालवभर्तुरासीदेकां न धारां परिहर्तुमीशः ॥ ९२ ॥

अन्वयः—यदीयखड्गः अगाधपानीयनिमग्नभूरिभृतकुटुम्वः अपि मालवभर्तुः भाग्यक्षयात् एकां धारां परिहर्तुम् ईशः न आसीत् ।

व्याख्या—यदीयेति । यदीयः [यस्यायं, (यद् + घः) 'त्यदादिभ्यश्छः' छस्य ईयादेशः] स चासौ खड्गश्च यदीयखड्गः=आहवमल्लदेवकृपाणः । नास्तिगाधः=स्थितिरत्रेत्यगाधं ['नञोऽस्त्यर्थानां वाच्योवा चोत्तरपदलोपः' इति बहुव्रीहिः] तच्च यत् पानीयं=खड्गधाराजलं, तत्र निमग्नं=त्रुडितं, भूरि=प्रचुरं, भूभृत्कुटुम्बं=पर्वतसमूहः, राजपोष्यवर्गश्च यस्य सः । अपि=तथापि । मालवभर्तुः=मालवदेशराजस्य; मालवेश्वरस्य भोजराजस्येत्यर्थः । भाग्यक्षयात्=दैवप्रातिकूल्यात् । एकां धारां=नगरीम् , अन्यत्र जलधारां । परिहर्तुं=त्यक्तुम् । ईशः=समर्थः । नासीत् = नाभूत् ।

भाषार्थः—जिस आहवमल्लदेवका खड्ग, अपनी गंभीरधारा के जल में समस्त भूभृत् (पर्वत, राजपोष्य) समुदाय के डूब जाने पर भी, मालवाधीश-भोजराज के दैव की प्रतिकूलता के कारण एक अर्थात् अद्वितीय धारा (जल, नगरी) का त्याग करने मे समर्थ नहीं हुआ ॥ ९२ ॥

निःशेषनिर्वासितराजहंसः खड्गेन बालाम्बुदमेचकेन ।
भोजक्षमाभृद्भुजपञ्जरेऽपि यः कीर्तिहंसीं विरसीचकार ॥ ९३ ॥

अन्वयः—बालाम्बुदमेचकेन खड्गेन निःशेषनिर्वासितराजहंसः यः भोजक्षमाभृद्भुजपञ्जरेऽपि यः कीर्तिहंसीं विरसीचकार ॥

व्याख्या—बालाम्बुदेति । बालश्चासौ अम्बुदश्च तद्वन्मेचकेन बालाम्बुदमेचकेन=नूतनजलधरश्यामलेन । 'मेचकः श्यामले कृष्णे तिमिरे बर्हिचन्द्रिके' इत्यमरः । खड्गेन=कृपाणेन । निःशेषं निर्वासिताः=स्वस्थानाद्बहिष्कृताः मानसम्प्रापिताश्च राजहंसाः=पक्षिविशेषाश्च येन सः । 'निर्लोभनृपतौ हंसः' इति विश्वः । यः=आहवमल्लदेवः । भोजक्षमाभृतः=भोजराजस्य भुज एव पञ्जरः=पक्षिबन्धनगृहं तस्मिन् । अपि । भोजकीर्त्तिरेव हंसी, ताम् । विरसीचकार=विरक्तां, विवर्णाञ्च चकार । बालाम्बुदेन खड्गस्य सादृश्यादुपमा । राजसु राजहंसपक्षिणामभेदारोपात् कीर्तौ हंस्या अभेदारोपात् भोजराजभुजे पञ्जराभेदारोपाच्चसावयवरूपकालङ्कारः ।

भाषार्थः—सजलजलदलके समान कान्ति से संवलित ऐसे खड्ग से, समस्त सामन्तश्रेष्ठ भूपालों को अपने अपने स्थान से निर्वासित करनेवाले जिस आहवमल्लदे-

वने, भोजराजके भुजरूपी पिंजरे में रहनेवाली कीर्तिरूपी हंसी को उससे विरक्त तथा कान्तिहीन कर दिया ॥ ९३ ॥

भोजक्ष्मापालविमुक्तधारा निपातमात्रेण रणेषु यस्य ।
कल्पान्तकालानलचण्डमूर्तिश्चित्रं प्रकोपाग्निरवापशान्तिम् ॥९४॥

अन्वयः—रणेषु यस्य कल्पान्तकालानलचण्डमूर्तिः प्रकोपाग्निः भोजक्ष्मापालविमुक्तधारा निपातमात्रेण शान्तिम् अवाप इति चित्रम् ।

व्याख्या—रणेष्विति । रणेषु = संग्रामेषु । यस्य=आहवमल्लदेवस्य । कल्पान्तकाले = कल्पावसाने, यः अनलः = अग्निस्तद्वच्चण्डा = अत्यन्तकोपप्रचुरा, मूर्तिर्यस्य सः । प्रकृष्टः कोप एव अग्निः = अनलः । भोजक्ष्मापालेन = भोजराजेन, विमुक्ता = त्यक्ता, धारा = नगरी, जलधारा च तस्याः निपातमात्रेण = पतनेनैव । शान्तिं = शमनम् । अवाप = प्रापेति चित्रम् = आश्चर्यम् । कल्पान्तकालानलेन प्रकोपाग्नेः सादृश्यात् उपमालङ्कारः । श्लिष्टेन धारापदेन जलधारायाः धारानगर्याः खड्गधारायाश्च बोधादत्र श्लेषालङ्कारः । यथा प्रलयाग्निर्भोजराज विसृष्टजलधारा-निपातमात्रेण कदापि शान्तो न भवितुमर्हति तथैव प्रलयाग्निसन्निभः प्रचण्डकोपाग्नि-रपि भोजप्रयुक्त खड्गधारारूपधाराजलेन शान्तो न भवितुमर्हति, किन्त्वत्र स शान्तो जात इति विरोधः । धारापदेन धारानगर्या विमर्शात् विरोधपरिहार इति विरोधाभासालङ्कारः ।

भावार्थ:—प्रलयकालीन अग्नि की उग्रमूर्ति के समान युद्धों में जिस आहवमल्लदेव की कोपाग्नि, भोजराज के द्वारा त्यागी हुई धारा के गिर जाने से ही शान्त हो गई, यह आश्चर्य है ॥ ९४ ॥

यः कोटिहोमानलधूमजालैर्मलीमसीकृत्य दिशां मुखानि ।
तत्कीर्तिभिः क्षालयति स्म शश्वदखण्डतारापतिपाण्डुराभिः ॥९५॥

अन्वयः—यः कोटिहोमानलधूमजालैः दिशां मुखानि मलीमसीकृत्य अखण्ड-परिपूर्ण- तारापति-पाण्डुराभिः तत्कीर्तिभिः शश्वत् क्षालयतिस्म ।

व्याख्या—य इति । यः = आहवमल्लदेवः । कोटिहोमानां = कोटिसंख्याकहवनानां यानि अनलधूमजालानि तैः कोटिहोमानलधूमजालैः = आहवनीयाग्निधूमसमूहैः । दिशां=पूर्वादिदिशां । मुखानि = अग्रभागान् । अमलीमसानि मलीमसानि कृत्वेति-

५ वि० च०

मलीमसीकृत्य = मलिनीकृत्य। [अभूततद्भावेऽर्थे 'कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः' इति च्विप्रत्ययः, 'अस्य च्वौ' इत्यकारस्येकारः] अखण्डः = परिपूर्णः, यः तारापतिः = नक्षत्रेशश्चन्द्रः तद्वत पाण्डुराभिः धवलाभिः। तत्कीर्तिभिः = कोटिहोमजन्यकीर्तिभिः। तच्छब्देन होमपरामर्शः। शश्वत् = निरन्तरं। क्षालयतिस्म = प्राक्षालयत्। तारापतेः पाण्डुरत्वेन कीर्तौ सादृश्यादुपमा। दिङ्मुखमलिनीकरणपटुभ्यो यज्ञेभ्य एव पाण्डुरकीर्तिजननात् विषमालङ्कारश्च। तथाहि--विषमं वर्ण्यते यत्र घटनाननुरूपयोः।

भाषार्थः—जो आहवमल्लदेव, करोड़ों यज्ञों की अग्नि के धुएँ से दिशाओं के मुख, जो काले हो गए थे उन्हें, पूर्व किये हुए करोड़ों यज्ञों की पूर्णचन्द्र के समान निर्मल कीर्तियों से निरन्तर धोया करता था ॥ ९५ ॥

ध्रुवं रणे यस्य जयामृतेन क्षीबः क्षमाभर्तुरभूत्कृपाणः।
एका गृहीता यदनेन धारा धारासहस्रं यशसोऽवकीर्णम् ॥ ९६ ॥

अन्वयः—रणे क्षमाभर्तुः यस्य कृपाणः जयामृतेन क्षीबः ध्रुवम् अभूत्, यत् अनेन एका धारा गृहीता, यशसः धारासहस्रम् अवकीर्णम्।

व्याख्या--रण इति। रणे = सङ्ग्रामे। क्षमाभर्तुः = पार्थिवस्य। यस्य = आहवमल्लदेवस्य। कृपाणः = खड्गः। जयामृतेन = शत्रुराजविजय एवामृतन्तेन। क्षीबः = मत्तः। ध्रुवं = निश्चयेन। अभूत्। यत् = यस्मात्कारणात्। अनेन कृपाणेन। एका धारा नगरी। गृहीता = स्वायत्तीकृता। यशसः = कीर्तेः। धारासहस्रं = प्रवाहसहस्रम्। अवकीर्णम् = विक्षिप्तम्, प्रसारितमित्यर्थः। 'कृपाणेनैका धारा गृहीतेति कीर्तिरर्जिता वितरिताश्च संख्यातीताः कीर्तयः। लोके यो हि स्वल्पमर्जयति, प्रचुरस्य वित्तस्य समुत्सर्गं करोति स मत्त इत्युच्यते।' अत्र मत्तत्वं तावत् यदेकस्या धाराया धारासहस्रेण विनिमयः कृतः इति परिवृत्तिरलङ्कारः। परिवृत्तिर्विनिमयो न्यूनाभ्यधिकयोर्मिथः इति लक्षणात्। धारापदस्य धारानगरी खड्गधारा जलधारा चेत्यर्थत्रयबोधात् श्लेषोऽलङ्कारः। अतः सङ्करः।

भाषार्थः—संग्राम में पृथ्वीपति आहवमल्लदेव का कृपाण विजयामृत को पानकर उन्मत्त हो गया था। जिस उन्माद के कारण इस कृपाण ने एक धारा (नगरी) को जीतकर, कीर्ति की सहस्र धाराओं को प्रसारित किया ॥ ९६ ॥

शतक्रतोर्मध्यमचक्रवर्ती क्रमादनेकक्रतुदीक्षितोऽपि।
ऐन्द्रात्पदादभ्यधिके पदे यस्तिष्ठन्नशङ्कास्पदतामयासीत् ॥ ९७ ॥

अन्वयः—क्रमात् अनेकक्रतुदीक्षितोऽपि मध्यमचक्रवर्ती यः ऐन्द्रात्पदात् (अपि) अभ्यधिके पदे तिष्ठन् शतक्रतोः शङ्कास्पदतां न अयासीत् ।

व्याख्या—क्रमादिति । क्रमात् = परिपाट्या । अनेके च ते क्रतवश्च तेषु दीक्षितोऽपि = विविधेषु यज्ञेषु सञ्जातदीक्षोऽपि [दीक्षा संजाता अस्येत्यर्थे 'तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्' इतीतच् इतीतच् प्रत्ययः—दीक्षा + इतच्] मध्यमलोकपालः = भूपालः । यः = आहवमल्लदेवः । ऐन्द्रात्पदात् = इन्द्रसम्बन्धिसिंहासनादपि । अभ्यधिके = उन्नते । पदे = राजसिंहासने । तिष्ठन् = वर्तमानः । शतक्रतोः = इन्द्रस्य । शङ्कास्पदतां = शंकास्थानं । नायासीत् = न जातः । अनेकक्रत्वनुष्ठानेनापि शतक्रतुर्भीतोनाभवत्, यतः तेनैव तदुत्पादनार्थं ब्रह्मा प्रार्थित आसीत् । शङ्काकारणसत्त्वेऽपि शङ्कास्वरूपकार्याभावप्रतिपादनात् विशेषोक्तिः । तथाहि—'कार्याजनिर्विशेषोक्तिः सति पुष्कलकारणे' इति लक्षणम् ।

भाषार्थः—क्रम से विविध यज्ञों की दीक्षाओं का ग्रहण करने से यह भूलोकपाल आहवमल्लदेव राजा, अब इन्द्र-पद से भी समुन्नत पद के पाने का अधिकारी हो गया था, तथापि यज्ञों की विविधता के कारण, अश्वमेधों की शत संख्या की ओर ध्यान न पहुँचने से अथवा उसकी प्रार्थना से ही चालुक्य वंश की उत्पत्ति होने से इन्द्र को किसी प्रकार की शंका नहीं होने पायी ॥ ९७ ॥

चिन्तामणिर्यस्य पुरो वराकस्तथाहि वार्ता जनविश्रुतेयम् ।
यत्तत्र सौवर्णतुलाधिरूढे चक्रे स पाषाणतुलाधिरोहम् ॥ ९८ ॥

अन्वयः—यस्य पुरः चिन्तामणिः वराकः, तथाहि इयं वार्ता जनविश्रुता, यत् तत्र सौवर्णतुलाधिरूढे (सति) सः पाषाणतुलाधिरोहं चक्रे ।

व्याख्या—यस्येति । यस्य = आहवमल्लदेवस्य । पुरः=पुरस्तात् चिन्तामणिः= ध्यानमात्रेणैव सकलपदार्थदाता रत्नविशेषः । वराकः = दीनः । तथाहीत्युदाहरति- इयम् = अग्रे प्रदर्श्यमाना । वार्ता = वृत्तान्तः । जनेषु = लोकेषु, विश्रुता = प्रसिद्धा । यत् = यस्माद्धेतोः । तत्र = आहवमल्लदेवे । सौवर्णतुलाधिरूढे = सुवर्णतुलापुरुषदानार्थं स्थिते सति । सः = चिन्तामणिः । पाषाणतुलाधिरोहं = पाषाणसाम्यतांप्तिं । चक्रे = प्राप्तः । 'चिन्तामणिश्चिन्तितानेवार्थांश्चिन्तकेभ्यो यच्छति । न स विचारयति, किमेते मद्वितरितपदार्थग्रहणयोग्या अयोग्या वेति । आहवमल्लदेवस्तु विद्वद्भ्यस्तपस्विभ्योऽयाचकेभ्योऽपि श्रोत्रियेभ्योऽचिन्तितानप्यर्थान् प्रायच्छदिति भावः ।

उपमानस्य चिन्तामणेः राजरूपोपमेयापेक्षया अपकर्षप्रतिपादनात् व्यतिरेकालंकारः। 'उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः' इति लक्षणम्।

भाषार्थ:—आहवमल्लदेव के सामने चिन्तामणि नामक रत्न की अवस्था दीन हो गई—ऐसी लोगों में प्रसिद्धि है। 'सुवर्णतुलापुरुष' का दान करने के लिये जब आहवमल्लदेव प्रस्तुत हुआ तब चिन्तामणि तो पाषाण के तुल्य प्रतीत होने लगा। क्योंकि चिन्तामणि याचकों की याचना पर उनके चिन्तित पदार्थों को देता है। उसके यहाँ पात्रापात्र का विचार नहीं है, यही उसकी पाषाणतुल्यता (जडता) है। और राजा, बिना याचना के ही, पात्रापात्र का विवेक कर, सत्पात्र विद्वानों को, जो जिसके जैसा योग्य हो उसे तदनुकूल अचिन्तित धनराशि को अर्पण कर सन्तुष्ट करता है। यही इसकी विवेकशीलता है॥ ९८॥

विधाय रूपं मशकप्रमाणं भयेन कोणे क्वचन स्थितस्य।
कलेरिवोत्सारणकारणेन यो यागधूमैर्भुवनं रुरोध॥ ९९॥

अन्वयः—भयेन मशकप्रमाणं रूपं विधाय क्वचन कोणे स्थितस्य कलेः उत्सारणकारणेन यः यागधूमैः भुवनं रुरोध।

व्याख्या—भयेनेति। भयेन = भीत्या (हेतौ तृतीया) मशकः प्रमाणम् = इयत्ता यस्य तत्-मशकप्रमाणं = दंशतुल्यम्। 'प्रमाणं हेतुमर्यादाशास्त्रेयत्ताप्रमातृषु' इत्यमरः। 'दंशः कीटविशेषे च वर्मदंशनयोः पुमान्' इति मेदिनी। रूपं= स्वरूपं। विधाय = कृत्वा। क्वचन = कस्मिंश्चित्। कोणे = गृहादीनामेकदेशे। स्थितस्य= वसतः। कलेः = तुर्ययुगस्य। उत्सारणकारणेन = निष्कासनप्रयोजनेन, दूरीकरणार्थमित्यर्थः। यः = आहवमल्लदेवः। यागधूमैः = यज्ञधूमैः। भुवनं = लोकं। रुरोध= अरौत्सीत्। कलिमलापसारणार्थं यज्ञा, मशकनिवारणार्थं धूमश्च क्रियते इति व्यवहारः। अत्र कलेरुत्सारणस्य यज्ञधूमकरणकभुवनरोधप्रयोजनत्वेनोत्प्रेक्षणात् उत्प्रेक्षालङ्कारः।

भाषार्थ:—कलि ने भय खाकर मच्छर का रूप धारण कर घर के किसी कोने में अपनी स्थिति रखी। आवहमल्लदेव ने उसे निष्कासित करने के निमित्त ही मानो यज्ञ के धुएँ से संसार को छा दिया।

स्वाभाविकादुष्णगभस्तिभासः क्षत्रोष्मणो दृष्टिविघातहेतोः।
यस्मिन् परित्रस्त इतिक्षितीन्द्रे क्षणं न चिक्षेप कलिः कटाक्षम्॥१००॥

अन्वयः—कलिः स्वाभाविकात् उष्णगभस्तिभासः (इव) क्षत्रोष्मणः दृष्टिविघातहेतोः परित्रस्त इति यस्मिन् क्षितीन्द्रे क्षणं कटाक्षं न चिक्षेप।

व्याख्या—कलिरिति। कलिः=तुर्ययुगं (कर्तृ) स्वाभाविकात्=प्राकृतात् (स्वभावे भवः-स्वभाव+ठक्), उष्णाः=संतप्ताः, गभस्तिभासः=रश्मिकान्तयः, यस्य तस्मात्=आदित्यात्। इव। (स्वाभाविकात्) क्षत्रोष्मणः=क्षात्रतेजसः। दृष्टिविघातहेतोः=दृष्टिविनाशकारणात्। परित्रस्तः=भीत इति। यस्मिन्, क्षितीन्द्रे=भूपतौ, आहवमल्लदेवे। क्षणं=मुहूर्तं। कटाक्षं=दृष्टिं। न चिक्षेप=न क्षिपतिस्म। स्वदृष्टिप्रतिघातभीत्या कलिना मुहूर्तमपि आहवमल्लदेवो नावलोकित इति भावः। अत्र क्षत्रोष्मण उष्णगभस्तिना सूर्येण सादृश्यप्रतिपादनात् उपमालङ्कारः।

भावार्थः—स्वाभाविक उष्ण किरणोंवाले सूर्य के समान प्रखर क्षात्र तेज के कारण दृष्टि की विकलता के भय से वह कलि क्षण मात्र के लिये भी आहवमल्लदेव की ओर देखने में समर्थ नहीं हो पाया ॥ १०० ॥

अन्यायमेकं कृतवान् कृती यश्चालुक्यगोत्रोद्भववत्सलोऽपि।
यत्पूर्वभूपालगुणान् प्रजानां विस्मारयामास निजैश्चरित्रैः ॥ १०१ ॥

अन्वयः—चालुक्यगोत्रोद्भववत्सलोऽपि कृती यः एकम् अन्यायं कृतवान्, यत्, निजैः चरित्रैः पूर्वभूपालगुणान् प्रजानां विस्मारयामास।

व्याख्या—चालुक्येति। चालुक्यगोत्रे=चालुक्यवंशे, उद्भवः=उत्पत्तिः, येषान्तेषु वत्सलः=स्निग्धः अपि। कृती=पुण्यवान् कुशलश्च। यः=आहवमल्लदेवः। एकम् अन्यायं कृतवान्=चकार। यत्=यस्मात्। निजैः=स्वैः। चरित्रैः=चरितैः। पूर्वे च ते भूपालाश्च पूर्वभूपालाः=स्वस्मात्प्राचीनपार्थिवास्तेषां गुणास्तान्। प्रजानां=जनानां, जनानित्यर्थः। [प्रजानामिति 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' इति कर्मणि शेषे षष्ठी] विस्मारयामास। आहवमल्लगुणानुरक्ताः प्रजास्तत्पूर्वभूपालगुणान् विस्मरन्तिस्मेत्यर्थः। एकस्य अन्यायकार्यस्य विधानात् आदौ निन्दायाः प्रतीतिः पर्यवसाने तु राज्ञः प्रभावप्रशंसा प्रतीयते। अत्र व्याजस्तुतिरलङ्कारः। तथा च—उक्तिर्व्याजस्तुतिर्निन्दास्तुतिभ्यां स्तुतिनिन्दयोः इति लक्षणम्।

भावार्थः—चालुक्य कुल में उत्पन्न हुए अपने पूर्वजों पर अत्यन्त स्नेह होने पर भी आहवमल्लदेव से एक अन्याय बन पड़ा, जो कि उसने अपनी

सच्चरित्रशीलता से पूर्ववर्ती राजाओं के गुणों को प्रजा से भुलवा दिया। तात्पर्य यह है कि आहवमल्लदेव के गुणों में अनुरक्त हुई प्रजा तत्पूर्ववर्ती राजाओं को भूल गई ॥ १०१ ॥

विशीर्णकर्णा कलहेन यस्य पृथ्वीभुजङ्गस्य निरर्गलेन।
सङ्गच्छतेऽद्यापि न डाहलश्रीः कर्पूरताटङ्कनिभैर्यशोभिः ॥१०२॥

अन्वयः—पृथ्वीभुजङ्गस्य यस्य निरर्गलेन कलहेन विशीर्णकर्णा डाहलश्रीः कर्पूरताटङ्कनिभैः यशोभिः अद्यापि न सङ्गच्छते।

व्याख्या—पृथ्वीति। पृथ्व्याः = भूमेः, भुजङ्गस्य = क्षितिपस्य आहवमल्लदेवस्य कामुकस्य च यस्य। निर्गता अर्गला = प्रतिबन्धो यस्मात्, तेन = निष्प्रतिबन्धेन। कलहेन = विग्रहेण। 'अस्त्रियां समरानीकरणाः कलहविग्रहौ' इत्यमरः। विशीर्णो नष्टश्छिन्नश्च, कर्णस्तन्नामधेयोडाहलाधिपः—'डाहलदेशश्चेदिदेशादभिन्नस्तदधीशः कर्णश्च गाङ्गेयदेवतनयोऽतुलपराक्रमादिगुणभूमिरासीत्।' श्रोत्रञ्च यस्याः सा। डाहलश्रीः = डाहलदेशराज्यलक्ष्मीः। कर्पूर-ताटङ्कनिभैः = कर्पूरकृतकर्णभूषणवद्धवलैः। यशोभिः = कीर्तिभिः। अद्यापि = अधुनापि। न सङ्गच्छते = ['समो गम्यृच्छिभ्याम्' इत्यात्मनेपदम्] न संगता = संमिलिता युक्ता वा भवति। कर्णाभावात् तद्भूषणाभावः तत्कीर्त्यभावश्चेत्यर्थः। यशसः कर्णपूरताटङ्केनसादृश्यादुपमालंकारः।

भाषार्थः—राजा आहवमल्लदेव के अप्रतिहत रूप से (निरन्तर) चलने वाले युद्ध के कारण विनाश को प्राप्त हुए कर्ण (राजा, कान) वाली, डाहलदेश की राजलक्ष्मी, कपूर के बने कर्णभूषण की कान्ति के सदृश धवल यश से अभी तक संगत न हो पायी ॥ १०२ ॥

उक्त एवार्थो भङ्ग्यन्तरेण प्रतिपाद्यते—

कर्णे विशीर्णे कलहेन यस्य पृथ्वीभुजङ्गस्य निरर्गलेन।
कीर्तिः समाश्लिष्यति डाहलोर्वीं न दन्तताटङ्कनिभाऽधुनापि ॥१०३॥

अन्वयः—पृथ्वीभुजङ्गस्य यस्य निरर्गलेन कलहेन कर्णे विशीर्णे (सति) दन्तताटङ्कनिभा कीर्तिः अधुनापि डाहलोर्वीं न समाश्लिष्यति।

व्याख्या—पृथ्वीति। पृथ्व्याः = भूमेः, भुजङ्गस्य = क्षितिपस्य, कामुकस्य च यस्य = आहवमल्लदेवस्य। निरर्गलेन = अप्रतिहतेन। कलहेन = युद्धेन। कर्णे =

एतन्नामके डाहलदेशाधिपे। विशीर्णे = नष्टे (सति)। दन्तः = हस्तिदन्तः, तन्निर्मित-ताटङ्केन, निभा = सदृशी कीर्तिः (कर्तृपदम्) अधुनापि = अद्यापि। डाहलोर्वीं = डाहलराजदेशं, चेदिदेशमिति यावत्। न समाश्लिष्यति = नालिङ्गति। गजदन्तताटङ्केन, कीर्त्तेः धवलतया साम्यादुपमा। भुजङ्गकर्णपदयोः श्लिष्टत्वात् कामिनीरूपाऽप्रकृतार्थेन डाहलोर्वीरूपप्रकृतार्थस्योपमानोपमेयभावो व्यङ्ग्यः। एवं भुजङ्गपदवाच्ययोरपि। तथा च शब्दशक्तिमूलध्वनिःसमासोक्तिर्वा।

भाषार्थः—पृथ्वी के राजा आहवमल्लदेव के निरन्तर चलनेवाले युद्ध से डाहलदेशाधिपति कर्ण के नष्ट होने पर, हाथीदाँत के बने कर्णाभूषण के समान श्वेत यश, अभी तक डाहलराज के देश का आलिङ्गन नहीं कर रहा है॥ १०३॥

यस्यासिरत्युच्छलता रराज धाराजलेनेव रणेषु धाम्ना।
दृप्तारिमातङ्गसहस्रसङ्गामभ्युक्ष्य गृह्णन्निव वैरिलक्ष्मीम्॥ १०४॥

अन्वयः—यस्य असिः अत्युच्छलता धाराजलेनेव धाम्ना दृप्तारिमातङ्गसहस्रसङ्गां वैरिलक्ष्मीम् अभ्युक्ष्य गृह्णन् इव रराज।

व्याख्या—यस्येति। यस्य = आहवमल्लदेवस्य। असिः = कृपाणः। अत्युच्छलता = नितान्तमुद्गच्छता धाराजलेन = खड्गधाराजलेन इव। धाम्ना = तेजसा। दृप्ताः = मत्ताः, ये अरिमातङ्गाः = प्रतिपक्षराजगजाः; प्रतिपक्षीभूताश्चाण्डालाश्च, तेषां सहस्रं, तेन सङ्गो यस्यास्तां। वैरिलक्ष्मीं = अरिराज्यश्रियम्। अभ्युक्ष्य = प्रक्षाल्य। गृह्णन् = स्वीकुर्वन्निव। रराज = शुशुभे। 'संसर्गवशादपूतं हि वस्तु जलेन प्रक्षाल्य गृह्यते'। यथा चाण्डालस्पर्शात् अशुद्धं वस्तु जलेन सम्प्रोक्ष्य शुद्धं कृत्वा गृह्यते, तथाऽत्रापि मातंगसहस्र-संगजनिताऽशुद्धियुक्ता वैरिलक्ष्मीः धाराजलेन पवित्रीकृत्य गृहीता। धाराजलेन सह धाम्नः सादृश्यप्रतिपादनादुपमा मातङ्गशब्देन गजानां चाण्डालानाञ्च प्रतीत्या श्लेषोऽलङ्कारः। खड्गे वैरिलक्ष्मीकर्मकग्रहण-क्रियाया उत्प्रेक्षणादुत्प्रेक्षा, अतस्तेषां सङ्करः।

भाषार्थः—आहवमल्लदेव का खड्ग, वेग से उछलनेवाले धारा-जल के समान तेज से मतवाले हजारों शत्रु मातंगों (हाथी, चाण्डाल) से सम्बन्धित शत्रु-राज्य की श्री को मानो प्रक्षालित कर स्वीकार करता हुआ शोभा दे रहा था॥ १०४॥

यद्वैरिसामन्तनितम्बिनीनामश्रान्तसन्तापकदर्थ्यमाने ।
पराङ्मुखं शोषविशङ्कयेवकुचस्थले कुङ्कुम पङ्कमासीत् ॥ १०५ ॥

अन्वयः—यद्वैरिसामन्तनितम्बिनीनाम् अश्रान्त-सन्ताप-कदर्थ्यमाने कुचस्थले शोषविशङ्कया इव कुङ्कुमपङ्कं पराङ्मुखम् आसीत् ।

व्याख्या—यस्य=आहवमल्लदेवस्य, वैरिणः=शत्रवः, ये सामन्ताः = माण्डलिकास्तेषां नितम्बिन्यः=सुश्रोणयस्तासाम्=अरिमाण्डलिकयुवतीनाम् । अश्रान्तः= निरन्तरः, सन्तापः = आहवमल्लकृतापकारातिशयजन्यतापस्तेन कदर्थ्यमाने = पीड्यमाने । कुचस्थले = वक्षोजदेशे । शोषणस्य, विशङ्कया = उत्कटेन संदेहेन । इव । कुङ्कुमपङ्कं=काश्मीरजलेपः । पराङ्मुखं=विमुखमासीत् । 'आहवमल्लदेवभयाऽऽकातरा माण्डलिकयुवतयः कुचप्रदेशेषु सन्तापातिशयाच्छोषशङ्कया काश्मीरजलेपं नाकार्षुः । पतिविरहात् कुङ्कुमलेशादीनामभावः । अत्र कुचस्थले कुङ्कुमलेपस्य पराङ्मुखत्वे स्तनयोः शोषशङ्काया हेतुत्वेनोत्प्रेक्षणात् हेतूत्प्रेक्षा ।

भाषार्थः—जिस आहवमल्लदेव के शत्रुराजाओं की रमणियों के कुचस्थल, निरन्तर होने वाले अपकारों से सन्तप्त होकर पीडा पाते थे, और शुष्क हो जाने के भय से केशर के लेप से पराङ्मुख हो गये थे । अर्थात् शत्रुराजाओं की स्त्रियों ने उससे भय खाकर अपने कुचों पर काश्मीर-केशर का लेप करना त्याग दिया ॥ १०५ ॥

एकत्रवासादवसानभाजस्ताम्बूललक्ष्म्या इव संस्मरन्ती ।
वक्त्रेषु यद्वैरिविलासिनीनां हासप्रभा तानवमाससाद ॥ १०६ ॥

अन्वयः—यद्वैरिविलासिनीनां वक्त्रेषु एकत्रवासात् अवसानभाजः ताम्बूललक्ष्म्याः संस्मरन्ती इव हासप्रभा तानवम् आससाद ।

व्याख्या—यद्वैरीति । यस्य=आहवमल्लस्य, वैरिणाम्=अरीणां विलासिन्यः= अंगनास्तासां । वक्त्रेषु=मुखेषु । एकत्र=वक्त्राख्यैकस्मिन् स्थाने । वासात् = अवस्थितेः (स्मरणे निमित्तम्) । अवसानं भजते सा अवसानभाक् तस्याः=लुप्तायाः । ताम्बूललक्ष्म्याः ताम्बूलजन्यशोभायाः ['अधीगर्थदयेशां कर्मणि' इति शेषे कर्मणि षष्ठी] संस्मरन्ती=चिन्तयन्ती । इव । हासस्य प्रभा-हासप्रभा=स्मितकान्तिः । तनोर्भावस्तानवं=तनुत्वं, कृशत्वमित्यर्थः । आससाद=प्राप । पतिविरहात् ताम्बूल-

भक्षणेन सह हास्यमपि लुप्तमितियावत् । अत्र हासप्रभायाः ताम्बूल-लक्ष्मीसमाप्तिस्मरणस्य हासप्रभानिष्ठतनुत्वप्राप्तौ हेतुत्वेनोत्प्रेक्षणात् हेतूत्प्रेक्षा । अप्रस्तुतसखीवृत्तान्तस्य हासप्रभावृत्तान्तेऽभेदसमारोपात् समासोक्तिरलङ्कारः ।

भाषार्थः—जिस आहवमल्लदेव के शत्रु राजाओं की स्त्रियों के मुखों पर विराजने वाली हास्य कान्ति, अपनी सङ्गिनी ताम्बूल शोभा को लुप्त हुई देख उसकी स्मृति में स्वयं कृश हो गई । अर्थात् वे हास्य (हँसना) भी भूल गईं ॥ १०६ ॥

यं वारिधिः प्रज्वलदस्त्रजालं वेलावनान्तेषु नितान्तभीतः ।
भूयः समुत्सारणकारणेन समागतं भार्गवमाशशङ्के ॥ १०७ ॥

अन्वयः—नितान्तभीतः वारिधिः प्रज्वलदस्त्रजालं यं वेलावनान्तेषु समुत्सारणकारणेन भूयः समागतं भार्गवमाशशङ्के ।

व्याख्या—नितान्तेति । नितान्तम् = अत्यन्तं, भीतः = भयाकुलः । वारिधिः= जलधिः । प्रज्वलन्ति = प्रदीप्तानि, अस्त्रजालानि = अस्त्रसमूहा यस्य तं—प्रज्वलदस्त्रजालं = प्रदीप्तास्त्रसमूहं । यम् = आहवमल्लदेवं । वेलावनान्तेषु=समुद्रतटारण्यप्रान्तेषु । समुत्सारणकारणेन = अपसारणार्थं । भूयः = पुनः । समागतं = समायातं । भार्गवं= भृगुकुलोत्पन्नं परशुरामं । आशशङ्के = सन्दिदिहे । अत्र नृपे परशुरामस्य संभावनात उत्प्रेक्षालङ्कारः ।

भाषार्थः—दीप्ति के कारण दमकते हुए अस्त्रों से सुसज्जित—जिस आहवमल्ल को देखकर अत्यन्त भयभीत हुआ समुद्र, अपने तटवर्ति-अरण्य के प्रान्त—भागों में क्या भृगुकुलोत्पन्न परशुराम जी मुझे पीछे हटाने के लिये पुनः आये हैं ? ऐसा सन्देह करने लगा ॥ १०७ ॥

रत्नोत्करग्राहिषु यद्भटेषु तटत्रुटन्मौक्तिकशुक्तिभङ्ग्या ।
अस्फोटयत्तीरशिलातलेषु रोषेण मूर्धानमिवाम्बुराशिः ॥ १०८ ॥

अन्वयः—अम्बुराशिः यद्भटेषु रत्नोत्करग्राहिषु (सत्सु) तटत्रुटन्मौक्तिकशुक्तिभङ्ग्या तीरशिलातलेषु रोषेण मूर्धानम् अस्फोटयदिव ।

व्याख्या—अम्बुराशिः = जलराशिः, समुद्र इति यावत् । यद्भटेषु-यस्य = आहवमल्लदेवस्य, भटाः=वीरास्तेषु । रत्नानाम्, उत्करास्तान् ग्रहीतुं शीलं येषान्तेषु—

भाषार्थः—समुद्र-तट पर स्वच्छन्द विचरने वाले जल-हाथियों से, आलान-स्तंभ (हाथी बाँधने का खूँटा)के भय से सहन न किये गये (द्वेषदृष्टि से देखे गये) विजयस्तंभ को यथार्थ में प्रवल पराक्रमशाली आहवमल्लदेव ने खड़ा करवाया ॥ १११ ॥

लब्ध्वा यदन्तः पुरसुन्दरीणां लावण्यनिष्यन्दमुपान्तभाजाम् ।
गृहीतसारस्त्रिदशैः पयोधिः पीयूषसन्दर्शनसौख्यमाप ॥११२॥

अन्वयः—त्रिदशैः गृहीतसारः पयोधिः यदन्तःपुरसुन्दरीणाम् उपान्तभाजां लावण्यनिष्यन्दं लब्ध्वा पीयूषसन्दर्शनसौख्यम् आप ।

व्याख्या—तृतीया यौवनाख्या दशा सदा येषान्तैः । 'त्रिशब्दस्य तृतीयार्थता त्रिभागवत्' त्रिदशैः = देवैः । गृहीतः मन्थनेन सारोऽमृतादिसारपदार्थो यस्य सः गृहीतसारः = अपहृतसर्वस्वः । पयोधिः उदधिः । यस्य = आहवमल्लस्य । अन्तः-पुरसुन्दरीणाम् = अवरोधाङ्गनानाम् । उपान्तभाजां = समीपवर्तिनीनाम्परिचारिकाणामित्यर्थः । लावण्यस्य = चारुतायाः निष्यन्दः = रसस्तम् लावण्यनिष्यन्दम् । लब्ध्वा = प्राप्य । पीयूषस्य = सुधायाः संदर्शनं = समीचीनतयावलोकनं तस्य सौख्यमानन्दस्तत् पीयूषसन्दर्शनसौख्यम् । आप = लेभे । देवताभिः अमृतस्य गृहीतत्वात् स्वसमीपे तस्य अभावात् साम्प्रतं तल्लावण्यामृतं विलोक्य पूर्वमानन्दम्प्राप्तवान् इत्यर्थः । स्त्रीणां लावण्यस्य पीयूषेण साम्यदर्शनात् उपमालङ्कारः ।

भाषार्थः—देवताओं ने जिसके सारभूत रत्न, अमृत आदि पदार्थों का हरण कर लिया है ऐसे समुद्र ने आहवमल्लदेव महाराज के अन्तःपुर में महारानियों के समीप बरतने वाली अङ्गनाओं के सौन्दर्यचारुता को निरखकर मानो अमृत के संदर्शन का ही सुख पाया ॥ ११२ ॥

जयैकरागी विजयोद्यमेषु दृष्ट्वा प्रयाणावधिमम्बुधिं यः ।
उत्कण्ठितोऽभूद्दशकण्ठशत्रु-सेतौ समस्यापरिपूरणाय ॥ ११३ ॥

अन्वयः—जयैकरागी यः विजयोद्यमेषु प्रयाणावधिम् अम्बुधिं दृष्ट्वा दशकण्ठशत्रुसेतौ समस्यापरिपूरणाय उत्कण्ठितः अभूत ।

व्याख्या—एकश्चासौ रागश्चैकरागः सोऽस्यास्तीति 'एकरागी' ['अत इनिठनौ' इति मत्वर्थीय इन् प्रत्ययः] जये एकरागी जयैकरागी = शत्रुनिर्मूलन-

प्रधानाभिलाषो। [अत्र यद्यपि कर्मधारयमत्वर्थीयाद् बहुव्रीहिरेवेष्टो लाघवात् तथाप्यर्थलाघवार्थमिह कर्मधारयान्मत्वर्थीय एव क्रियते। अर्थलाघवञ्च कर्मधारयमत्वर्थीये अभिधावृत्त्या प्रतिपत्तिर्बहुव्रीहौ तु लक्षणया। यद्वा 'भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने। संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः' इति प्रशंसायामिन्] विजयोद्यमेषु = जययात्रासु। प्रयाणस्य = प्रस्थानस्य, अवधिः = मर्यादा तम् प्रयाणावधिम्। प्रस्थानसीमानम्। अम्बुधिं = सागरं दृष्ट्वा = वीक्ष्य। दशकण्ठस्य = दशग्रीवस्य रावणस्य शत्रुः = अरिः श्रीदाशरथिस्तस्य सेतौ, दशकण्ठशत्रुसेतौ = रामकृतालौ। 'सेतुरालौ-स्त्रियां पुमान्' इत्यमरः। समस्यापरिपूरणाय—समं कृत्स्नं तद्विषयिणीच्छा समस्या = संघटनं तस्याः परिपूरणाय—अर्धस्य परिपूर्तये। उत्कण्ठा संजाता अस्य उत्कण्ठितः = उत्सुकः। अभूत् [सममिति सुबन्तादिच्छायामर्थे 'सुप आत्मनः क्यच्' इति क्यच्-प्रत्ययः 'सुपोधातुप्रातिपदिकयोः' इति क्यजन्तधातोरवयवस्य द्वितीयैकवचनस्य निवृत्तौ, 'सर्वप्रातिपदिकानां क्यचि लालसायां सुगसुकौ' इति सुगागमे 'समस्य' इति जाते 'अप्रत्ययात्' इति स्त्रियाम् 'अ' प्रत्ययस्ततः 'अजाद्यतष्टाप्' इति टाप् प्रत्ययः]

भाषार्थः—एकमात्र विजय के अभिलाषी आहवमल्लदेव, अपनी विजय-यात्रा के प्रस्थानमार्गपर्यन्त फैले हुए समुद्र को देख रावण के शत्रु श्रीरामचन्द्र जी के द्वारा बाँन्धे गये सेतु से अवशिष्ट अर्धभाग को पूर्ण करने के लिये उत्सुक हुए ॥ ११३ ॥

दोर्दण्डदर्पाद्द्रविडप्रकाण्डं यः सम्मुखं धावितमेकवीरम्।
अभाजनं वीररसस्य चक्रे बाणोत्करच्छिद्रपरम्पराभिः ॥ ११४ ॥

अन्वयः—यः दोर्दण्डदर्पात् सम्मुखं धावितम् एकवीरं द्रविडप्रकाण्डं बाणोत्करच्छिद्रपरम्पराभिः वीररसस्य अभाजनं चक्रे।

व्याख्या—य इति। यः = आहवमल्लदेवः। दोषावेव दण्डौ तयोः दर्पात्—दोर्दण्डदर्पात् = बाहुदण्डाभिमानात्। 'भुजबाहू प्रवेष्टो दोः' इत्यमरः। सम्मुखम् = अभिमुखं। धावितम् = आक्रमणाय वेगादापतन्तम्। एकवीरम्। [एकश्चासौ वीरश्च-एकवीरः 'पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन' इति समासः।] बहुलग्रहणानुवृत्तेः 'पूर्वापरप्रथमचरमजघन्यसमानमध्यमध्यमवीराश्च' अस्य प्रवृत्तिर्न भवति। प्रधानवीरम्। द्रविडप्रकाण्डं = द्रविडप्रशस्तम्। [प्रकाण्डश्चासौ द्रविडश्च तत् द्रविडप्रकाण्डम्—'प्रशंसावचनैश्च' इति समासः] 'मत-

ल्लिका मचर्चिका प्रकाण्डमुद्धतल्लजौ, प्रशस्तवाचकान्यमूनि' इत्यमरः। मतल्लिकादयो नियतलिङ्गा, न तु विशेष्यनिघ्नाः। चोलदेशेश्वरमिति यावत्। वाणोत्करच्छिद्रपरम्पराभिः = सायकसमूहवेधनिकरैः। वीररसस्य = वीराख्यरसस्य जलस्य च। अभाजनम् = अपात्रं चक्रे। अत्र काव्ये सर्वत्र द्रविडचोलशब्दावभिन्नार्थबोधकौ।

भाषार्थः—भुजदण्ड के अभिमान से आक्रमणार्थ सम्मुख दौड़कर आये हुए और द्रविडों में प्रशंसित ऐसे प्रधान वीर को आहवमल्लदेवने बाणवर्षा से निरन्तर विद्ध कर वीर रस का अपात्र बना दिया। अर्थात् उसकी वीरता नष्ट कर दी ॥ ११४ ॥

पृथ्वीभुजङ्गः परिकम्पिताङ्गीं यशःपटोल्लुण्ठनकेलिकारः।
विधृत्य काञ्चीं भुजयोर्बलेन यश्चोलराज्यश्रियमाचकर्ष ॥ ११५ ॥

अन्वयः—यशः पटोल्लुण्ठनकेलिकारः पृथ्वीभुजंगः यः काञ्चीं विधृत्य परिकम्पिताङ्गीं चोलराज्यश्रियं भुजयोर्बलेन आचकर्ष।

व्याख्या—यश इति। यश एव=चोलकीर्तिरेव, पटः=आच्छादनम्, उत्तरीयवस्त्रमिति यावत्, तस्य लुण्ठनम्=अपहरणं, तस्य केलिः=क्रीडा, तां करोति, तच्छीलः पृथ्वीभुजङ्गः = क्षितीशः, कामुकश्च। यः = आहवमल्लदेवः। काञ्चीं = चोलराजधानीं, मेखलाञ्च। विधृत्य=गृहीत्वा। भयेन, प्रेम्णा च=परिकम्पितानि अंगानि यस्याः सा तां=वेपमानशरीराम्। चोलराज्यश्रियं=चोलनृपतिलक्ष्मीम्, अङ्गनाञ्च। भुजयोः=बाह्वोः। बलेन = शक्त्या। आचकर्ष = आजहार। अत्र चोलनृपतिराज्यलक्ष्मीव्यवहारे कामुककर्तृकस्य काञ्चीपरिग्रहेण हठादन्यसाधारणनायिकासमाकर्षणरूपस्य अप्रकृतव्यवहारस्य अभेदसमारोपात् समासोक्तिरलङ्कारः।

भाषार्थः—कामुक के समान आहवमल्लदेव ने यशरूपी उत्तरीयवस्त्र (ओढ़नी) के अपहरण की क्रीडा करते हुए, काञ्ची (देश = राजधानी, मेखला) को बलात् पकड़कर भय और प्रेम से कम्पित गात्रोंवाली चोल देश को राज्यश्री को (कामिनी को) अपने भुजबल से खींच लिया ॥ ११५ ॥

चोलस्य यद्भीतिपलायितस्य भालत्वचं कण्टकिनो वनान्ताः।
अद्यापि किंवाऽनुभविष्यतीति व्यपाटयन्द्रष्टुमिवाक्षराणि ॥ ११६ ॥

अन्वयः—कण्टकिनोवनान्ताः यद्भीतिपलायितस्य चोलस्य अद्यापि किंवा अनुभविष्यतीति अक्षराणि द्रष्टुमिव भालत्वचं व्यपाटयन्।

व्याख्या—कण्टकिन इति। कण्टकाः सन्ति येषु ते—कण्टकिनः = कण्टकप्रचुराः (कण्टक+इन् 'अत इनिठनौ') वनान्ताः = काननप्रान्तभागाः। यस्मात्= आहवमल्लदेवात्, भीतिः = मरणभयं, तया, पलायितस्य = प्रद्रुतस्य। चोलस्य = चोलराजस्य द्रविडेश्वरस्य। अद्यापि = इतः परमपि। किंवा अनुभविष्यतीति हेतोः। अक्षराणि = भालवर्णान्। द्रष्टुं = वीक्षितुमिव। भालत्वचं=कपालचर्म। व्यपाटयन्= व्यदारयन्। अत्र वनान्तकण्टकवृक्षकर्तृकभालत्वग्विपाटने 'अद्यापि किंवाऽयमनुभविष्यती'त्यक्षरदर्शनस्य प्रयोजनत्वेन उत्प्रेक्षणात् फलोत्प्रेक्षा।

भाषार्थः—आहवमल्लदेव के भय से भागे हुए चोल देश के राजा की भाललिपि को देखने के लिये ही मानो (इससे आगे और भी इस राजा को कौन-कौन सी विपत्तियों का अनुभव करना है) उसके भाल (माथा) की त्वचा को कण्टक-प्रचुर वन-प्रदेशों ने फाड़ दिया। तात्पर्य यह है कि भय के कारण कण्टकयुक्त झाड़-झंखारों में से भागते-भागते उसके माथे की त्वचा कट गयी।

दहत्यशेषं प्रतियोगिवर्गमनर्गले यद्भुजशौर्यवह्नौ।
प्रत्यर्थिपृथ्वीपतिचिन्त्यमानो न कोऽपि मन्त्रः प्रतिबन्धकोऽभूत्॥११७॥

अन्वय—अनर्गले यद्भुजशौर्यवह्नौ अशेषं प्रतियोगिवर्गं दहति (सति) प्रत्यर्थिपृथ्वीपतिचिन्त्यमानः कोऽपि मन्त्रः प्रतिबन्धकः नाभूत्।

व्याख्या—अनर्गल इति। न विद्यते अर्गलः = प्रतिबन्धको यस्य तस्मिन्-अनर्गले = अप्रतिहते। यस्य = आहवमल्लदेवस्य, भुजौ = बाहू, तयोः शौर्यमेव वह्निस्तस्मिन्–यद्भुजशौर्यवह्नौ = आहवमल्लबाहुपराक्रमाग्नौ। अशेषं = निःशेषं, सम्पूर्णमिति यावत्। प्रतियोगिवर्गं=शत्रुवर्गं, प्रतिध्यानिसमुदायमिति यावत्। दहति= भस्मसात्कर्तुं प्रवृत्ते सति। प्रत्यर्थिपृथ्वीपतिभिः = शत्रुराजभिः, चिन्त्यमानः = विचार्यमाणः। कोऽपि = कश्चिदपि। मन्त्रः = गुप्तवादः, षाड्गुण्यवाद इति यावत्, बीजादिरूपश्च। प्रतिबन्धकः=बाधकः, रोधक इति यावत्। नाभूत् = नाभवत्। मन्त्रेण वह्निः प्रतिबध्यते मन्त्रशक्त्या च राज्यं संरक्ष्यते। भुजशौर्ये वह्नित्वारोपाद्रूपकम्। शौर्यव्यवहारे वह्निव्यवहारस्यापि अभेदप्रतिपत्तिः।

भाषार्थः—जब आहवमल्लदेव के बाहुपराक्रम की अप्रतिहत अग्नि में समस्त शत्रुपक्ष जलने लगा तब उनका कोई गुप्त परामर्श अथवा मन्त्रशास्त्रोक्त मन्त्र, उनकी रक्षा करने में समर्थ न हो सका।

ब्रूमस्तस्य किमस्त्रकौशलविधौ देवस्य विक्रामतः
पुष्पेषोरिव यस्य दुष्परिहराः सर्वैरखर्वाः शराः ।
राज्ञामप्रतिभानमेव विदधे युद्धेषु यस्योर्जित-
ज्यानिष्ठ्यूतनितान्त-निष्ठुररवप्राप्ताग्रवादो भुजः ॥ ११८ ॥

॥ विद्यापति-काश्मीरकभट्ट-महाकवि-श्रीबिल्हणविरचिते विक्रमाङ्कदेवचरित-महाकाव्ये प्रथमः सर्गः समाप्तः ॥

अन्वयः—सर्वैः पुष्पेषोः इव यस्य अखर्वाः शराः दुष्परिहराः विक्रामतः देवस्य तस्य अस्त्रकौशलविधौ किं ब्रूमः । युद्धेषु यस्य ऊर्जित-ज्या निष्ठ्यूत-नितान्त निष्ठुर-रव-प्राप्ताग्रवादः भुजः राज्ञाम् अप्रतिभानमेव विदधे ।

व्याख्या—सर्वैरिति । सर्वैः । जनैरिति शेषः । पुष्पाणि इषवो यस्य सः—तस्य—पुष्पेषोः = कामस्य इव । यस्य = राज्ञः । अखर्वाः = प्रबलाः । शराः = बाणाः । दुष्परिहराः = परिहर्तुमशक्याः । [दुष् + परि + हृ + खल् 'ईषद्दुःसुषु-कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्' 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' इति कर्मणि] विक्रामतः = पराक्रमं कुर्वतः । देवस्य = राज्ञः । तस्य = आहवमल्लदेवस्य । अस्त्रकौशलविधौ=अस्त्रप्रयोग-नैपुण्ये । किं ब्रूमः = किं वर्णयामः, वचनातीतमेव तदित्यर्थः । युद्धेषु=संगरेषु । यस्य = आहवमल्लदेवस्य । ऊर्जितज्यायाः = उत्कृष्टप्रत्यञ्चायाः निष्ठ्यूतः=निर्गतः, नितान्तम्= अत्यन्तं निष्टुररवः=परुषशब्दस्तस्मिन् प्राप्तः, अग्रवादः=प्रथमजल्पः येन सः । भुजः = बाहुः । राज्ञां = नृपाणाम् । अप्रतिभानम् = अचेतनत्वं, मूकत्वञ्च । विदधे = चकार । अत्र पुष्पेषोः आहवमल्लस्य च शराणां दुष्परिहरत्वधर्मसाम्याद्उपमालंकारः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् 'सूर्याश्वैर्मसजास्ततस्सततगाःशार्दूलविक्रीडितम्' इति लक्षणम् । मुसलगांवकरश्रीगजाननशास्त्रि-प्रणीतायां सुचारुव्याख्यायां विक्रमाङ्कदेवचरितस्य महाकाव्यस्य प्रथमसर्गः समाप्तः ।

भाषार्थः—जिस आहवमल्लदेव के काम-बाण के समान प्रबल तीक्ष्ण बाणों से बचना सभी शत्रुओं को कठिन पड़ गया, उस प्रबल पराक्रमी महाराज आहवमल्लदेव की प्रशंसा का वर्णन कहाँ तक किया जाय ? युद्धों में धनुष की उत्कृष्ट प्रत्यञ्चा से अत्यन्त कठोरध्वनि के करने में जिसकी भुजा सर्व प्रथम है, अर्थात् सबसे बढ़कर है, उस भुजा ने सभी शत्रु राजाओं की चेतना को नष्ट कर दिया ॥ ११८ ॥

मुसलगांवकर श्रीगजाननशास्त्रि-विरचित-सुरभिनाम्नी हिन्दी टीका समाप्ता ।


तिथी.........
पु०सं०...1930
भारती पुस्तकालय

काह



...వచ్చు
...తెల్లి
...వెండి
...చేయుండి
...గంటకు
...అవకాశం
...దయ ఎక్కు-
...వలసిన
...ఆర్యసమా

ఆర్యసమాజములో దయానంద విద్యా సమితి ప్రాంత కార్య నిర్వాహక మండలి మరియు స్థానిక కార్యదర్శుల సమావేశము జరుగును బీచ సంగయ్య.

బడంగ్ పేటలో యజ్ఞం

ఆషాఢ శు 3 ఆదివారం శ్రీసరస్వతి శిశు మందిరము విద్యాలయ భవన ప్రారంభోత్సవ సందర్భమున బడంగ్ పేటలో

వీరి రాకపోకల నెవరును అడ్డగింపజాలరు వీరు ప్రపంచ రహస్యములను ఛేదించగలరు. తమ లక్ష్యములను నెరవేర్చిచూపగలరు. దీనికొరకు వారు అగాధమైన సాగరము అడుగు భాగమునకు పోవలసివచ్చినను, మృత్యువు నెదుర్కొనవలసివచ్చినను వెనుదీయని పరాక్రమవంతులు, త్యాగవీరులు భారత్ కవసరము. -స్వామి వివేకానంద

భూషణమువు,
భారతీయ-

...జరుగును
...ాలం
...ము వెళ్ళెద
...ఆర్యసమ
...మ్‌జీ ఆర
...ఆరోజే వా
...సలాసికి పంపుచున్నారు.

...ల అనుభవాలు

...క్షేమముగ జరుగు
...టట శ్రీ గావెళ్లి చూచి,
ఢిల్లీ ఆర్యసమాజములో
...ల్లా, ...
...చి, ఋషికేశ్ వెళ్లాము
... భద్రీనాథ్‌కు బస్సులో
... కు ... రూపాయం
...వ చాల భయంకరముగ
...షికేశ్ నుండి భద్రీనాథ్
...ర్ల దూరముననున్నది.
...లు ఎక్కడమే ప్రొద్దున
... బయలుదేరి సాయం

...శంకర్ మహా
...సరస
...ంధీ
...ప్ప
...ఖరాజిల్లా
...రణించారు.
...ంచారు.

జమ్మూ-కాశ్మీర్‌లో మార్పులు

జూలై ౨ సోమవారం ఫారూక్ అబ్దుల్లా ప్రభుత్వం పతనమైనది. అతని బావ గులాం మొహమ్మద్‌షా ముఖ్యమంత్రిగా ప్రమాణస్వీకారంచేశారు. సరిహద్దు రాష్ట్రమైన జమ్మూ-కాశ్మీర్‌లో ఫారూక్ అబ్దుల్లా చర్యలు అశాంతికరములుగనుండెను.

కొత్తగూడెం రామవరంలో

జ్యేష్ఠ బ ౧౧ సోమవారం శ్రీమల్లికార్జునరావు సత్యవతి దంపతుల కుమారునకు పండిత శ్రీ రుద్రదేవ్‌శాస్త్రి యజ్ఞానంతరం అక్షరాభ్యాసము చేయించారు. శ్రీ పి. ధర్మయ్య దంపతులు, శ్రీమతి

...	౨—౫౦
...	౩—౦౦
...	౪—౫౦
...	౨—౫౦
...	౨—౫౦
...	౨—౦౦
...	౧—౨౫
...	౫—౦౦
...	౬—౦౦
...	౨—౫౦
...	౫—౦...

...స సమితి
...యాసం... ౧౬-2-139/14
మలక్‌పేట హైదరాబాద్-500036

యజ్ఞంచేయించారు. మాదన్నపేట, సైదాబాద్ ఆర్యసమాజ కార్యకర్తలు పాల్గొన్నారు. రాజేశ్వర్ నరసింహరాజు వైదిక ధర్మ ప్రచారంచేశారు భజనలు పాడారు. గ్రామస్థులు పాల్గొన్నారు.

సకల పాపములకు మూలము

సమస్త పాపములు, సర్వవిధముల చెడుగులను ఒకే ఒక శబ్దముద్వారా వెల్లడించవచ్చును అదియే దుర్బలత్వము. ఆ దుర్బలత్వమువలననే చెడుగులు వైపు ప్రవృత్తి కలుగుతుంది. అదియే సర్వస్వార్థములకు మూలము. దుర్బలత్వము వలననే మనుష్యుడు పరులకు నష్టము కలిగించుచున్నాడు. పీడించుచున్నాడు, దౌర్బల్యమువలననే అసత్యములు సత్యములుగ భాసించుచున్నవి.

..., నిర్మూలించుటకు
...సూదనులు-శత్రు నా
అశుభమును నశింపజేయ
తొలగించవలెను.

అలస్య ప్రమాదాలవ
సను తప్పుగ అర్థము చేసి
అసూయ, ద్వేషము,
ఆర్యావర్తములో అన్యా
గారు. తమ తప్పిద...
స్వదేశీయులు సమైక్య...
లను పడగొట్టారు పా...
మరల మనలో అనై...
కొందరు కట్టి కామ...
టకు చేయూత నిచ్చి...
తోడ్పడు చున్నందున
పొంచియున్న బహి...
శ్శత్రువులను అంత...
హించుచున్నారు కావున
వీర పుత్రీపుత్రులారా!
క...డు. అరిందములు-
దమన మొనర్చు వారు
భారతీయుడు అరిమర్ద...